

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 4 अंक 3

जनवरी-मार्च 2007

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

## विषय-क्रम

### वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

### एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

### विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

### आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा

विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं।  
सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य		5
1. कुछ सवाल: पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में	पुष्पपाल सिंह	9
2. शब्द और समाज	नन्दलाल मेहता 'वागीश'	15
3. असूया-दोष	विष्णुदत्त शर्मा	21
4. मीडिया : आतंकवाद उर्फ 'पशु का उदय'	देवेन्द्र इस्सर	27
5. साहित्य-सृजन और राष्ट्रीयता	सदानन्दप्रसाद गुप्त	41
6. दक्खिनी हिन्दी	कृपाशंकर सिंह	53
7. दक्षिण भारत में हिन्दी का रचनात्मक लेखन : एक विवेचन		
	विजयराघव रेड्डी	65
8. बिहार में हिन्दी : उद्गम और प्रगति	श्रीरंजन सूरिदेव	74
9. भाषा का व्यवहार और हिन्दी जनमानस	देवेन्द्र कुमार देवेश	82
10. स्मृति-लोप से जुड़े प्रश्न	कुमार सौरभ 'तितीर्षु'	86
11. वैश्वीकरण : श्रमिक और श्रम संगठन	विपिन चन्द्र राय	99
12. दूर देखती आँखें : अनुवाद में बारीक मानवीय संवेदनाएं		
	योगेन्द्र कृष्णा	104
13. उद्बोधन का ताप	पुष्पपाल सिंह	108
14. एकोत्तरशति	धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'	112
15. पाठकीय प्रतिक्रिया		116
16. प्राप्ति-स्वीकार		121

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### आजादी के बाद की गुलामी

हमें आजाद हुए साठ वर्ष होने को हैं। इस बीच हमने बहुत कुछ पाया; बहुत कुछ खोया। आजादी आयी, हमने शासक बदले, व्यवस्था में बदलाव नहीं किया। व्यवस्था परिवर्तन के अभाव में आजादी का, विकास के लिए चलाई जाने वाली योजनाओं का, लाभ समाज के निम्नतम स्तर तक नहीं पहुँचा। धनी और गरीब के बीच की खाई, गाँवों एवं शहरों के बीच की खाई, लगातार चौड़ी होती गयी। हमारे विकास का ढाँचा उधार का था। हमारे अधिकांश अंग्रेजी पढ़े-लिखे नेता उपनिवेशवादी शिक्षा पद्धति की उपज थे। नेहरू आदि नेता समाजवाद/साम्यवाद से प्रभावित थे। उन्हें लगा कि सरकार सब कुछ कर सकती है पावरोटी, दवा, खाद बनाने से लेकर होटल चलाने, बस, रेल, हवाई जहाज चलाने, इस्पात बनाने, शासन चलाने, देश की रक्षा करने तक। स्पष्टतः ऐसा हो नहीं सकता था। अव्यवस्था फैली, भ्रष्टाचार बढ़ा, गरीबी, अशिक्षा पिछड़ेपन का विस्तार हुआ। बदलाव के प्रयत्न हुए, आर्थिक नीतियाँ कुछ हद तक बदलीं। लेकिन हम बहुत समय खो चुके थे। हमने राह बदली। किन्तु नयी आर्थिक नीतियों का लाभ अभी भी समाज के निचले वर्ग तक नहीं पहुँच पा रहा है। बदलाव का मानवीय चेहरा गायब है।

अंग्रेजों ने भारत में अपने राज्य के स्थायित्व के लिए कुछ मिथक रचे थे। कुछ मिथक ईसाई मिशनरियों के थे। उनका उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना था, और आज भी हैं। वे मिथक इस देश को, हमारे समाज को, खण्डित-दृष्टि से देखने के थे; हमें कमजोर बनाने के थे। वे आज भी कायम हैं; हमारी सोच, हमारे लेखन, हमारे साहित्य, हमारी राजनीति पर अपनी जकड़ दिन-दिन सशक्त करते जा रहे हैं। कारण इस देश की राजनीति है, जो सेवा में विश्वास नहीं करती। बँटे हुए समाज में राजनीतिकों का सत्ता पर अधिकार करना आसान हो जाता है। बिकाऊ बुद्धिजीवी इस दुष्ट कार्य में सबसे अधिक सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इसमें कम्युनिस्ट/मार्क्सवादी बुद्धिजीवी सबसे अधिक बढ़चढ़ कर भाग लेते रहे हैं। दुबॉय ने 1857 के ठीक बाद इस्ट इण्डिया कम्पनी को लिखा कि भारत में ईसाई धर्म का कोई भविष्य नहीं है। इसके प्रचार में सबसे बड़ा बाधक बौद्धिक हिन्दू धर्म है। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दुओं पर ब्राह्मणों के प्रभाव को खत्म किया जाय। फिर तो उन्होंने हिन्दू धर्म का नाम ही ब्राह्मण धर्म रख दिया। भारतीय समाज के अंगों की असम्बद्धता, भारत का काल्पनिक राष्ट्र होना, मुख्यधारा की अवधारणा, मुख्यधारा, एवं सीमान्त के संघर्ष की अवधारणा, समाज की नस्लवादी व्याख्या, भारत में आर्य अभियान आदि मिथक अंग्रेजों के उपनिवेश सशक्तिकरण की तथा ईसाईकरण नीति की उपज कहे जा सकते हैं।

इस देश में आजादी की लड़ाई अहिंसा के अस्त्र से लड़ी गयी थी। इसका अन्त इतनी अधिक हिंसा, इतने रक्तपात से हुआ, जितना विश्व में कहीं, किसी भी देश में नहीं हुआ था। गांधी के भारत को चार लड़ाइयाँ अपने पड़ोसियों से लड़नी पड़ीं, स्वयं गांधी आजादी के छह महीने के अंदर ही गोलियों के शिकार बने। गांधी को लोगों ने सबसे कम समझा। जिन्होंने थोड़ा बहुत समझा भी तो उन्हें आजादी के तुरंत बाद हासिए पर ठेल दिया गया। ध्यान देने की बात यह भी है कि आज गांधी के नाम पर चलनेवाली संस्थाओं/संस्थानों में वैसे लोगों की भरमार है, जो गांधी को आजीवन गाली देनेवालों की विचारधारा के हैं।

डेढ़ साल पहले लामा लोब्जांग ने राजगृह/नालन्दा में नालन्दा पर ही एक सेमिनार तथा सम्मेलन आयोजित कराया था, जिसमें दलाई लामा, उनके निर्वासित सरकार के प्रधानमंत्री, बिहार के राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री, तथा 29 देशों के लगभग 300 लोगों ने भाग लिया था। हमें बिहार सरकार के पर्यटन विभाग के होटल में ठहराया गया था। विदेशियों के ठहरने तथा हम सभी के भोजन-जलपान की व्यवस्था रक्षा मंत्रालय के आयुध कारखाने में की गयी थी। गोष्ठी/सम्मेलन दूर-स्थित नव नालंदा महाविहार में आयोजित होती थी। गोष्ठी के दौरान दलाई लामा के निर्वासित सरकार के प्रधानमंत्री प्रोफेसर साम्धोंग रिम्पोछे ने जोर देकर यह बात कही थी कि राजगृह में, जो बुद्ध की भूमि रही है, आयुध कारखाना की स्थापना नहीं की जानी चाहिए थी। उनके इस बात की प्रतिध्वनि बार-बार सुनायी देती रही, विशेष रूप से निर्मला देशपाण्डे के भाषण में। इसी बात को कुछ समय बाद अम्बिका सोनी ने भी दुहराया था। यहाँ मैं इस बात को छिपाना नहीं चाहता कि मुझे प्रोफेसर साम्धोंग रिम्पोछे, निर्मला देशपाण्डे, अम्बिका सोनी तथा उनके ही जैसे अन्य लोगों की समझ पर तरस आती है। ऐसे लोग न किसी चीज की जड़ तक जाकर उसे समझना चाहते हैं और न चुप रहना जानते हैं। नालन्दा के खण्डहरों पर खड़े होकर इस बात की अनुभूति तो होनी ही चाहिए थी कि नालन्दा ध्वस्त ही इसलिए हुआ कि उसके पीछे शस्त्र की शक्ति नहीं थी, जो बख्तियार खिलजी जैसे आततायी का सामना कर सके। शस्त्रबल रहता तो चीन का तिब्बत पर कब्जा जमाना संभव नहीं होता।

उल्लिखित सेमिनार के आमंत्रण-पत्र के साथ एक पुस्तिका भेजी गयी थी, जिसमें नालन्दा के ध्वंस का उल्लेख किया गया था। बख्तियार खिलजी नालन्दा के पुस्तकालयों को जला रहा था। दो पुस्तकालयों को जलाने के बाद जब तीसरा पुस्तकालयजिसे रत्नागार कहा जाता थाजलाया जाने लगा, तो कुछ भिक्षु आए। उन्होंने उसके न जलाए जाने का अनुनय किया। बख्तियार ने उन भिक्षुओं को भी उसी आग में फिंकावा दिया। उनकी अहिंसा, उनका अनुनय विनय कोई काम नहीं आया। भारत, अफगानिस्तान, मध्य एशिया में ऐसा बार बार होता रहा। पुस्तकें जलाने की घटना इण्डोनेसिया में भी हुई।

लामा लोब्जांग की ही संस्था, दिल्ली के अशोक मिशन में बुद्ध जयन्ती का

समारोह चल रहा था, जिसमें निर्मला देशपाण्डे नारे लगवा रही थी: “युद्ध नहीं बुद्ध”। हाँ युद्ध तो सचमुच ही नहीं चाहिए, लेकिन युद्ध जीतने की क्षमता न हो तो न युद्ध को रोका जा सकता है और न बुद्ध की रक्षा ही की जा सकती है। कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने युद्ध का परित्याग कर दिया था, किन्तु उसकी सेना तथा शस्त्र यथावत बने रहे। चीनी आक्रमण के समय बिनोवा भावे पूर्वी बिहार की पदयात्रा पर थे। मैंने उनसे एक प्रश्न किया था : “चीन के आक्रमण का सामना करने के लिए आप अपने शान्ति-सैनिकों को सीमा पर क्यों नहीं भेजते?” बिनोवाजी ने मेरे प्रश्न का उत्तर एक लम्बी चुप्पी से दिया था।

प्रश्न हिंसा या अहिंसा का नहीं है। प्रश्न वैचारिक धुंध का है, हमारी खण्डित दृष्टि का है; हमारे खण्डित इतिहास बोध का है, उनके कारकों के प्रभावी बने रहने का हो। जनतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि देश की दृष्टि साफ हो, मानसिक उलझाव से हमें मुक्ति मिले। तभी जनतंत्र सफल तथा देश एवं समाज सबल हो सकता है। फिर धुंध का श्रोत उसे नहीं होना चाहिए जिसे समाज विश्वास की नजर से देखता है। इससे भ्रम फैलता है। अंग्रेजी का प्रभुत्व दिन-दिन बढ़ता जा रहा है; शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिक का गलत हस्तक्षेप भी। आजादी के बाद चली आ रही उपनिवेशी शिक्षा तथा अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व के तार कहीं न कहीं भारत में दिन-दिन बढ़ रहे आत्म-विस्मृति, खण्डित दृष्टि, खण्डित इतिहास-बोध, खण्डित समाज-बोध, विश्वविद्यालयों की डिग्री लिए संस्कृति एवं परम्परा-निरक्षरों के बौद्धिक आतंक, दिन-दिन बढ़ रही राजनीतिक-आर्थिक विसंगतियों, आदि से जुड़े हैं। आधुनिकता को काल-सापेक्ष होना चाहिए न कि क्षेत्र-सापेक्ष। इस गलतफहमी को समझा जाना चाहिए। इसे समझे बिना हम न विदेशियों की भोंड़ी नकल बन्द करेंगे और न आयातित विचारों पर अपनी निर्भरता।

एक तरफ जनता के पैसे से हर तरह की सुविधा जुटाने की होड़ लगी है तो दूसरी तरफ किसान आत्महत्या करने को बाध्य हैं। शासकवर्ग अपने लिए अत्यन्त मजबूत सुरक्षा कवच की व्यवस्था करता है। वही बच्चों, स्त्रियों, बूढ़ों, निरीह नागरिकों के बधिकों के लिए उदार वार्ता मंच प्रदान करता है। आखिर यह सब कब तक चलता रहेगा?

आजादी के बाद हम डेढ़ सौ वर्ष पुरानी उपनिवेशी शिक्षा व्यवस्था को बनाए रख रहे हैं। यही हाल न्याय-व्यवस्था, भारतीय दण्ड संहिता, पुलिस संहिता, आदि का है। विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित आयोगों की संस्तुतियों को लागू नहीं किया जाता। यह पुरानी शिक्षा व्यवस्था, पुराने कानून, आदि आजादी के बाद की हमारी गुलामी के प्रतीक हैं जिन्हें तुरत बदला जाना आवश्यक है। संवेदना शून्य मूल्यहीन राजनीति, चरमराती नरम राज्य व्यवस्था, अत्यन्त सुस्त न्याय व्यवस्था का बोझ जनता आजादी के बाद से ही ढोए जा रही है। बदलाव आवश्यक है और शीघ्र।

**ब्रज बिहारी कुमार**

*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080  
☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*  
**1/3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi- 110002**

## कुछ सवाल: पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में

पुष्पपाल सिंह\*

रचना और आलोचना का सम्बंध सदैव ही प्रश्नों के घेरे में रहा है। साहित्य के आधुनिक युग में जब से रचना की परख के लिए आलोचना प्रवृत्त हुई, प्रायः ही यह शिकायत दर्ज होती रही कि कृति का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका है। रचना की पूरी समझ का सम्यक् विवेक आलोचना में नहीं है, संशय का यह स्वर बार-बार उठता ही है। हाँ, यदि आलोचना पुस्तक को सिर्फ 'सराहना', 'विशुद्ध रूप में यशोगान' ही दे सके, तो बढ़िया आलोचना है, आलोचक 'श्रेष्ठतम' है, नहीं तो वह व्यर्थ और दो कौड़ी का है। इसका 'अर्थात्' यह हुआ कि आलोचना रचनाकार की 'अपेक्षाओं' के अनुरूप ही चले, उसकी शोभा-यात्रा में पालकी को कंधे ही देती रहे। प्रायः हो भी यही रहा है और पुस्तक-समीक्षा की इस 'दुर्गत' को 'लोकार्पण' गोष्ठियों ने और भी बढ़ाया है। पुस्तक-समीक्षा के लिए रखी गयी प्रायोजित गोष्ठियों और लोकार्पण के उत्सवधर्मी आयोजनों में कृति को वस्तुनिष्ठ ढंग से जाँचा-परखा नहीं जाता अपितु उसका और रचनाकार की 'मार्केटिंग' का उपक्रम किया जाता है। दिल्ली के (कदाचित् अन्य नगरों, कस्बों और महानगरों की लोकार्पण-गोष्ठियों में भी यही सब हो रहा है) लोकार्पण समारोहों, जो कभी-कभी पंच- सितारा होटलों में भी आयोजित होते हैं, की रिपोर्ट पढ़ कर यदि कोई पाठक उस पुस्तक को इस आशा से देखे कि इतनी नामी-गिरामी हस्तियों ने कृति की अभ्यर्थना में इतना कुछ कहा है तो निस्संदेह इसमें कुछ तो होगा ही, तो जरूरी नहीं कि सभी कृतियों में वह सब कुछ हो ही। इससे यह निष्कर्ष भी सहज ही निकाला जा सकता है कि 'गोष्ठीबाज' रचना-सम्राटों और आलोचना-सम्राटोंकी एक अलग जमात ही बनती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाएँ प्रायः ही एक रूढ़ि-सी ढलती चली जा रही हैंदो-एक दबे स्वर में कमियाँबस हो गयी पुस्तक-समीक्षा-कर्म की इतिश्री। 'पुस्तक समीक्षा से पहले अपने गंभीर पाठ की अपेक्षा रखती है', 'आलोचना एक प्रकार का पुनर्सृजन है' जैसे कथन अपनी अर्थवत्ता खो रहे हैं।

उपभोक्तावादी समय में पुस्तक-आलोचन ने अपने को बहुत सस्ता बना लिया

\* डॉ. पुष्पपाल सिंह, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला;

है, उसने अपना स्तर गिराने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। इसीलिए उसे समय-समय पर रचनाकार की जायज और नाजायज, आक्रोशशील टिप्पणियाँ सुनने को बाध्य होना पड़ता है। यूँ एक लेखकीय फैशन के रूप में रचनाकारों द्वारा मंच पर अपने लेखों-टिप्पणियों में यह कहने का फैशन आम ही है कि 'मैं कभी आलोचना की परवाह नहीं करता', 'मैं आलोचना को दो कौड़ी की समझता हूँ' या एक उपन्यासकार का अपने उपन्यास में कथन कि "आलोचना के कारखाने में ज्यादातर काम आजकल ऐसे लौंडे लपाड़े कर रहे हैं, जिन्हें अभी जाँघिया बाँधना भी नहीं आता" (सत्येन कुमार, 'छुट्टी का दिन', पृ. 224)। कभी-कभी तो रचनाकारों की यह खीझ या चिढ़ गाली देने की सीमा तक जा पहुँचती है, सारे लेखकीय शील और अभिव्यक्ति की गरिमा को उतार कर रख देने की हद तक। बात थोड़ी पुरानी है, 'सारिका' (मई-II) 1986 में रमेश बक्षी ने कहा था, "आलोचक को हम नकार तो नहीं सकते। परंतु मेरी नजर में तो आलोचक कल भी दो कौड़ी के थे, आज भी हैं और कल भी रहेंगे।" इस प्रकार की घोषणाओं की एक लंबी परम्परा है, तो भी 'सही आलोचना' को इस प्रकार की टिप्पणियों से घबराने की आवश्यकता नहीं है किंतु अपने आलोचना-कर्म का निर्वाह 'धर्म' के रूप में करते रहना चाहिए। ये घोषणाएँ मात्र लेखकीय ढंग और 'सार्वजनिक दिखावे'भर की चीज हैं। कुछ-एक अपवादों को छोड़कर, प्रायः सभी रचनाकार अपनी कृति के सम्बन्ध में उसी आलोचकीय विवेक को जानने को समुत्सुक रहते हैं जिसे वे एकाधिक बार 'अक्षम', 'अयोग्य' सिद्ध कर गलिया और लतिया चुके होते हैं। यह स्थिति तब और भी हास्यास्पद बन जाती है, जब वे 'जानते' और 'मानते' हुए भी कि अमुक 'स्टार आलोचक' ने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया है, कब का छोड़ दिया है, उसे ही 'गॉड फॉर्दर' मानते हुए, उनके 'आर्ष कथनों', 'वचनों' को सुनने के लिए लालायित रहते हैं। वे निरंतर तलाश में रहते हैं कि उन्हें वही आलोचना 'यथेष्ट ऊँचाई' प्रदान कर सके। जब कोई ऐसा आलोचक किसी पुस्तक की आलोचना- अभ्यर्थना में कह देता है, 'ऐसी पुस्तक मैंने बहुत दिन बाद पढ़ी' या 'बहुत दिन बाद पढ़ने को मिली' तो इसमें लेखक के गद्-गद् होने की स्थिति कहाँ बनती है, वस्तुतः बहुत दिनों बाद ही उन्होंने कोई किताब पढ़ी होगी। रचनाकार को यह बात समझ में आ जानी चाहिए, पर पता नहीं क्यों अधिकांश इसे समझना नहीं चाहते कि आलोचना की बैसाखियाँ कमजोर रचना को बहुत देर तक सहारा नहीं दे पातीं। इस सम्बन्ध में काल बड़ा क्रूर निर्णायक है।

आज के साहित्यिक परिदृश्य में आशावान बात यह है कि वक्ती चर्चाओं, गोष्ठियों की अभिनंदनीय टिप्पणियों, लोकार्पण समारोहों की 'अहो रूपम्, अहो ध्वनि' से अलग हटकर भी गंभीर समीक्षा-कर्म हो रहा है, उसकी अपनी पहचान बनी है। उसे समुचित मान्यता भी मिली है। आज आलोचना में इतनी समझ, परिपक्व सोच, विकसित हो चुकी है कि न तो वह किसी पत्रिका द्वारा कृति विशेष पर 'कृपा भाव'

से कई-कई अंकों में प्रायोजित चर्चाएँ करा देने से प्रभावित होती है, न ही बड़े पद-धारी, नाम-धारी, लोगों के 'आर्ष वचनों' से अभिभूत हो अपने निष्कर्ष निकालती है और न ही कृति पर घोषित पुरस्कारों आदि से प्रभावित होती है। पाठक को भी यह बात भली-भाँति समझ में आने लगी है कि यदि किसी 'नामी' आदमी ने किसी सामान्य-सी कृति को 'अति महत्वपूर्ण' बताया है तो उसके पीछे क्या छोटा-बड़ा स्वार्थ हो सकता है।

पुस्तक-समीक्षा के संदर्भ में यह नितांत आवश्यक रूप में विचारणीय है कि आलोचना की बुनियादी प्राथमिकताएँ, उससे अपेक्षाएँ और उसकी कूवत क्या है? अकादमिक आलोचना-ग्रंथों में निर्दिष्ट समीक्षा या समीक्षक के दायित्वों से अलग हटकर यदि विचार किया जाए तो आज आलोचना की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका यह हो सकती है कि वह 'पढ़े जाने योग्य' का रेखांकन कर साहित्य को समाज से जोड़ने का दायित्व-निर्वाह करे। आज शब्द और पुस्तक का प्रसार सभी कालों, समयों, से अधिक हुआ है। अब 'छपने' की इतनी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं कि जो चाहें 'छप' रहा है, जिसका चाहें 'छप' रहा हैटैरों-टैर पत्रिकाएँ, समाचार-पत्रों के सप्ताह में कई-कई 'पुल आउट्स', प्रकाशन-संस्थाओं, प्रकाशकों की खूब बाढ़, आदि द्वारा नित्य नए साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। ऐसे में आलोचना को यह विवेक देना होगा कि 'छपे हुए' और 'छपने योग्य' के अंतर को पहचाना जाए। श्रेष्ठ साहित्य का रेखांकन करने की महती आवश्यकता है। किंतु यह बात मात्र सिद्धांत-कथन-भर बनकर रह जाती है, व्यवहार में इस स्थिति में बड़ा घालमेल चल रहा है। पुस्तकालोचन की इस स्थिति को सुधारने में आलोचक, प्रकाशक और लेखक तीनों की ही सहयोगी दृष्टि वांछित परिणाम उपस्थित कर सकती है। आलोचक को अपने दायित्व और हैसियत दोनों का ही भान होना चाहिए। आलोचक को निश्चय ही ध्यान में रखना होगा कि इससे पूर्व इसी कथ्य पर जो कृतियाँ हैं, यह कृति उनसे किस प्रकार अलग है और यह अन्य कृतियों की तुलना में कितनी और किस प्रकार अलग जा सकती है। इस प्रकार के फतवे देने से कोई लाभ नहीं कि 'इस विषय पर अभी तक कोई ऐसी कृति लिखी ही नहीं गयीं, आदि। इस निर्णयात्मक और तुलनात्मक स्थिति को वस्तुनिष्ठ ढंग से परखने के लिए आलोचक का अपने विषय का 'अधीत विद्वान' होना नितांत आवश्यक है। रचनाकार के लिए अपनी विधा-विषय की कृतियों को पढ़ना एक शौक हो सकता है, आलोचक के लिए यह उसकी 'मजबूरी' है कि वह अपने विषय का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ अवश्य ही पढ़े हुए हो। आज जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'विशेषज्ञता', 'तज्ञता' (स्पेशलाइजेशन) का क्षेत्र निरंतर परिमित होता जा रहा है, तब आलोचक से यह अपेक्षा क्यों की जाएगी। वह स्वयं व्यर्थ का यह दंभ क्यों ढोये कि वह सब कुछ पर लिख सकता है। आँख के इलाज को ही लीजिए, वहाँ सामान्य रोगों का विशेषज्ञ कोई और है, 'रेटिना' का विशेषज्ञ कोई और, आदि, और

वह दिन कदाचित् दूर नहीं जब बायीं आँख और दायीं आँख के विशेषज्ञ अलग-अलग होंगे। पर साहित्य के 'डॉक्टरों' में तो यह बीमारी फैल रही है कि वे सभी कुछ के विशेषज्ञ हैं। सब कुछ, सभी विधाओं का, पढ़ लीजिए पर लिखने के लिए तो आप स्वयं अपनी विशेषज्ञता अर्जित और निर्धारित कीजिए, सही आलोचना-कर्म की यह समुचित माँग है। इससे किसी भी कृति के साथ बेहतर न्याय हो सकता है और आलोचना से फिजूल की फतवेबाजियाँ भी समाप्त हो सकती हैं। समय चाहे कितना ही बदल गया हो, उपयोगितावादी दृष्टि के समय में आलोचना को अपना विवेक और अस्मिता खो नहीं देनी चाहिए। भूमंडलीकरण, तकनीकी क्रांति, सूचना क्रांति आलोचना को बेहतर औजार मुहैया कराने का कारण तो बन सकते हैं, उसके विवेक को हरने का नहीं। आलोचक पौर्वात्य और पाश्चात्य, विदेशी, साहित्य-चिंतन के अधुनातन से अपने को पूर्ण परिचित रखे, यह उसके आलोचना-कर्म की अनिवार्यता है। जितना अधिक उसका अन्तर अनुशासनीय ज्ञान होगा, जितनी अधिक वह अपनी परम्परा में पैठ रखता होगा, उसकी दृष्टि की आधुनिकता भी उतनी ही सम्पन्न होगी। सभी प्रकार का अध्ययन उसके लिए वांछनीय है।

पुस्तक की आलोचना में भाषा का प्रश्न दो रूपों में विचारणीय है। प्रथमतः आलोचक की भाषा और दूसरे पुस्तक की भाषा। पुस्तक आलोचना में कभी ऐसी भाषा का प्रयोग बतौर फैशन किया जाता है जिसका कोई खास मतलब नहीं निकलता पर 'नयेपन' का आतंक जरूर पैदा करने की चेष्टा की जाती है। आजकल एक शब्द चल रहा है 'स्पेस' 'यह पुस्तक' इस संबंध में एक नया 'स्पेस' रचती है। 'रचनाकार ने यहां एक नया 'स्पेस' पैदा किया है। 'अब आप स्वयं इस 'स्पेस' के लिए कोई 'स्पेस' ढूँढते रहिए या तुलसी बाबा की तरह 'उपजहिं अनत, अनत छवि लहहिं' का अनुकरण करते रहिए। कभी हर कृति में 'भूमंडलीकरण' का हौवा दिखाते रहिएभले ही उसमें दूर-दूर तक ऐसा न हो। कभी उसमें 'विखंडन' ढूँढिए तो कभी 'उत्तर आधुनिकता' के अन्य अनेक सूत्र। पुस्तक-समीक्षा ऐसी तो न बने कि उस समीक्षा के लिए अलग से किसी व्याख्याकार की आवश्यकता का अनुभव हो। जिसकी भाषा भी पूर्ण सक्षम और संप्रेषणीय हो, यह भी वांछनीय है। दूसरा प्रश्न पुस्तक की भाषा से सम्बन्धित है। पुस्तकालोचन में भाषा की पड़ताल प्रायः छूटती जा रही है, सारी समीक्षा कथ्य की परख कर अपना पल्ला छुड़ा लेती है। कितनी ही कहानियों-उपन्यासों में भाषा का विवेचनात्मक रूप कथ्य को आकर्षक रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता है। किंतु समीक्षक उस ओर बिलकुल ध्यान न देकर कथ्य की खूबियों पर ही रीझे जा रहा है। बहुत से समीक्षक और काफी सारे लेखक यह मानते हैं कि रचना में विचार ही प्रमुख हैं, भाषा तो उन विचारों की संवाहिका मात्र है। अपने पक्ष में वे कबीर का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कबीर की सादगी और मिल्टन के 'सादगी, असलियत और जोश' काव्य-सिद्धान्त की बात कर हम बहुत देर तक 'भाषा कैसी हू होय' का

अनुगमन नहीं कर सकते। भाषा को शुद्ध, टकसाली तथा विधा और कथ्य के अनुरूप होना ही चाहिए। कौन लेखक भाषा को किस रूप में कितना तोड़ सकता है। यह उसकी कलाकारिता पर निर्भर है किन्तु आलोचना की शुद्ध प्रयोग की मांग अनुचित नहीं है। भाषा को स्वतंत्र और पूर्ण विकास के लिए खुला छोड़ देना समुचित होते हुए भी, उच्छृंखलता को गले नहीं उतारा जा सकता। यह एक अलग विचारणीय विषय है कि खूब-खूब प्रतिष्ठित लेखकों की भाषागत अशुद्धियों को ओर न पुस्तक-समीक्षक ध्यान दे रहे हैं और न प्रकाशक। अनेक भाषागत त्रुटियों के होते हुए भी जब कोई कहानी-पुस्तक या उपन्यास पुरस्कृत होता है तो एक कचोट सी होती है। क्या किसी चर्चित लेखक के कहानी-संग्रह का नाम 'भविष्यदृष्टा' (द्रष्टा, होना चाहिए) देखकर कोपत नहीं होगी? 'अनेकों', 'व्यवसायिक', 'व्यवहारिक', 'अत्याधिक', 'अतिशयोक्ति' 'जागृत', आदि शब्दों को आलोचक क्यों पचाए? 'यह' और 'ये' का जो घालमेल नव लेखन में हो रहा है, उनकी पुस्तकों की समीक्षा करते समय इन बातों की ओर समीक्षक का ध्यान क्यों नहीं जाता? वर्तनी आदि से अलग यह सवाल भी उठना चाहिए कि कथा की 'रम्यता' में सपाट और 'ठस्स' भाषा को आलोचक अपने परीक्षण में क्यों न देखे? यह तब और भी आवश्यक हो गया है जब एक ओर हिंदी गद्य इतना समुन्नत, समृद्ध, है, तो दूसरी ओर रातों-रात प्रसिद्धि के शिखर आयत्त करने वाले लेखक हफड़ा-तफड़ी में भाषा की ओर ध्यान ही नहीं दे रहे हैं। सामान्यतः आज का लेखक भाषा संस्कार को अर्जित करने में वांछित मेहनत कम कर रहा है, पुस्तक-समीक्षा इस पक्ष की अनदेखी कर रही है।

पुस्तक-समीक्षा से सम्बन्धित दो पक्ष और बच रहे हैं प्रकाशक और लेखक। पुस्तक के सही समीक्षण में ये दोनों ही 'लोकार्पण' समारोहों के द्वारा बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। यह ठीक है कि आज के बाजारवादी समय में योग्यता और प्रतिभा का भी विपणन, प्रबंधन हो रहा है, किंतु 'लोकार्पण' रस्म कृति का सम्यक् परीक्षण नहीं करने देती। प्रकाशकीय और लेखकीय 'प्रयत्नों' से जो लोग इन आयोजनों में पहुँचते हैं, कदाचित् वे एक बाध्यता में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं, उन्हें इस उत्सवधर्मी माहौल में कृति को सराहना और केवल सराहना ही देनी है। ऐसी ही स्थितियों में सामान्य-सी कृति को 'न भूतो न भविष्यति' की कोटि में पहुँचाया जाता है। आज जब इतने अधिक टी.वी. चैनलों और समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, आदि में विज्ञापन की कितनी ही तरतीबें, जुगतें, मौजूद हैं तो प्रकाशक को उन साधनों का प्रयोग करना चाहिए, पुस्तकों के 'लोकार्पण' बंद होने चाहिए। हाँ, जब किसी स्वर्गीय की ग्रंथावली आदि प्रकाशित हो रही हो, जिसका साहित्यिक संसार के लिए बहुत अधिक महत्व हो, तो 'लोकार्पण' का औचित्य भी बनता है। दूसरे प्रकाशक का यह दायित्व भी बनता है कि वह विधा विशेष के विद्वानों द्वारा ही या कहेँ किसी उचित व्यक्ति से ही अपनी पुस्तक की समीक्षा करायेँ, उन्हें ही समीक्षार्थ कृतियाँ भेजेँ। पत्रिकाओं के संपादक भी

यही दृष्टि अपना कर पुस्तक की समीक्षा कराये। अपने स्तर पर लेखक को भी इस ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रथमतः उसे चेष्टा करनी चाहिए कि वह सही समीक्षकों से अपनी पुस्तक की समीक्षा कराये, झूठी प्रशंसाएँ उसके लेखन को न तो कोई सही दिशा दे सकती हैं, और न थोड़ी देर की वाह-वाही उसे प्रतिष्ठा के शिखर प्रदान कर सकती हैं। श्रेष्ठ रचना देर-सवेर अपनी पहचान स्थापित करा ही लेती है। यह आंतरिक विश्वास लेखक का सम्बल बनना चाहिए। कूड़ा-ट्रैश लेखन प्रत्येक विधा में प्रत्येक समय में होता रहा है, पुस्तक-समीक्षा में भी ऐसा हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि हम श्रेष्ठ और सही लेखन का सम्मान करें, उसे सहेजने के उपक्रम करते रहे।

## प्राप्ति-स्वीकार

**विनिमय से प्राप्त पत्रिकाओं तथा पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:**

### पुस्तकें

**भारतीय संस्कृति का स्वरूप**, लेखक: (अमित कुमार शर्मा; प्रकाशक: कौटिल्य प्रकाशन, ई.-20, नीचला मंजिल लाजपत नगर-III नई दिल्ली-110024. प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ: 344, मूल्य: 295/- रुपये।

**हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता**, संपादक: अमित कुमार शर्मा; प्रकाशक: कौटिल्य प्रकाशन, ई.-20, नीचला मंजिल लाजपत नगर-III नई दिल्ली-110024. प्रथम संस्करण 2005, पृष्ठ: 176, मूल्य: 96/- रुपये।

**गंगावतरण (काव्य)**, डॉ. किशोरी लाल व्यास 'नीलकंठ'; प्रकाशक: इंदूर हिंदी समिति, हैदराबाद, एफ-1ए रत्ना रेसिडेन्सी, माहेश्वरी नगर, हब्शीगुड़ा, हैदराबाद-500 007. प्रथम संस्करण: 7 जून, 2006 ई., पृष्ठ: 104, मूल्य: 100/- रुपये।

**जीवन के खोल**, कहानीकार/प्रकाशक: बैनीकृष्ण शर्मा; अंजुरि प्रकाशन, आर 1/17, नवादा हाउसिंग कॉम्प्लेक्स, नजफगढ़ रोड़, नई दिल्ली-59. प्रथम संस्करण: जनवरी-2002, पृष्ठ: 144, मूल्य: 180 रुपये।

**साहित्य सुमन**, काव्य संकलन; प्रकाशक: "साहित्य-प्रकाश" अमरपाटन, जिला सतना-485775 (म. प्र.), पृष्ठ: 128.

**घोटुल की आखिरी रात** (कहानियाँ), संपादक: शिव कुमार पाण्डेय; प्रथम संस्करण: 2003, प्रकाशक: जनहित प्रकाशन, सी-5, नेहरू नगर, भोपाल; पृष्ठ: 96, मूल्य: 150/- रु.

## शब्द और समाज

### नन्दलाल मेहता 'वागीश'\*

मनुष्य जगत् के व्यवहार, चिन्तन-मनन और भावन की सभी स्थूल-सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ शब्द के अर्थभाव से चरितार्थ होती हैं। तत्त्वतः शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। अर्थ भी शब्द ही है। इसलिए महाकवि तुलसीदास कहते हैं गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।<sup>1</sup> शब्द के उच्चारण के साथ ही अर्थभाव घटित होता है। शब्द का उच्चरित-श्रुत रूप वैखरी वाकसंज्ञा से अभिहित होता है। वाणी का यह चेतन व्यापार है। जहाँ प्रत्यक्षतः शब्द-स्फुरण गोचर नहीं होता, वहाँ वाक् का मध्यमा रूप सक्रिय रहता है। मध्यमा वाक् हृदयस्थ भाषा है। वर्णरूपा होते हुए भी व्याकरण के प्रकट अनुशासन से मुक्त है। इसलिए वैखरी भाषा के एक वाक्य के रूप लेते-लेते न जाने कितने वाक्य मध्यमा के स्तर पर बनते-बिगड़ते और रूप लेते चलते हैं। पश्यन्ती और परावाक् उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं। आत्मस्तरीय एवं भावातीत समाधिस्तरीय हैं। ये दोनों लोकव्यवहारातीत हैं। अभिप्राय यह है कि यह वैखरी भाषा है जो लोक-व्यवहार की धारक है। जिसे हम भाषा कहते हैं, वह अनिवार्यरूपेण वैखरी है। इसलिए वैखरी को 'कण्ठदेशगा' कहा गया है। वैखरी ही लिपि-लेख्य है। शब्द की चर्चा का सन्दर्भ वैखरी वाक् से जुड़ा है। यही संवाद की भाषा है। कहने, सुनने और जानने की भाषा है। मनुष्य-समाज के व्यवहार और आदान-प्रदान की भाषा है।

समाज का व्यवहार भाषा-अधिष्ठित है तो भाषा शब्द-अधिष्ठित है। फलतः सम्पूर्ण मानव-व्यवहार शब्दाश्रयी है। व्याकरण में शब्द ही पद-संज्ञा प्राप्त करता है। इसे 'नाम' भी कहा गया है। पद का अर्थ ही पदार्थ है। पद नाम है तो अर्थ रूप है। इसलिए नाम और रूप का, शब्द (पद) और पदार्थ का नित्य सम्बन्ध है। 'जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं। जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। तब रूप हमारे भीतर दिखाई देते हैं।'<sup>2</sup> तत्त्वतः नाम और रूप की संज्ञा अभिन्न है। यह संसार नामरूपात्मक है। रूप भी मूलतः नाम ही है। प्रत्येक रूप पदार्थ यानी पद (नाम) का अर्थ है। पद ही शब्द है। सभी रूप नाम (शब्द) में शयित हैं। नाम लेते ही रूप जागरित हो जाते हैं। इसलिए महाकवि तुलसीदास ने कहा है कि

\* डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश' लेखक एवं चिन्तक हैं। शब्दालोक1218, सेक्टर 4, गुडगाँव।

रूप नाम के अधीन हैदेख अहिं रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना।<sup>3</sup> नाम के बिना रूप का ज्ञान हो ही नहीं सकता। कोई पदार्थ हस्तगत होने पर भी बिना नाम के पहचाना नहीं जा सकता किन्तु यदि नाम (शब्द) का ज्ञान है तो नाम का स्मरण करते ही वह रूप (पदार्थ) हृदय में साकार हो उठता है।

रूप विशेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परिहिं पहिचाने।  
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ स्नेह विशेषें।<sup>4</sup>

तत्त्वतः उक्त कथन स्वयं प्रमाणित है। रूप तो कुछ कालोपरांत लुप्त हो जाते हैं किन्तु नाम रहता है। इसी ज्ञानबोध का आश्रय लेते हुए भक्तिक्षेत्र में कहा जाता है 'हरि से बड़ा हरि का नाम।'

निष्कर्षतः पद और पदार्थ यानी शब्द (नाम) और रूप की अभिन्नता स्वतःसिद्ध है। जहाँ तक भावों का सम्बन्ध है, उनका अस्तित्व-मूल भी रूप-व्यापार ही है। रूप के बिना भावों की कल्पना नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन मननीय है कि 'सौन्दर्य माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों से निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, कारुण्य इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के हैंइसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के हैं।'<sup>5</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी पदार्थों और भावों का बोध उनके वाचक शब्दों के अधीन है। सभी दृष्ट वस्तुएँ और भाव मनुष्य-मन के आलम्बन हैं। मन आश्रय है। जगत् के सभी पदार्थ और भाव आलम्बन होने के साथ-साथ उदीपन भी हैं। मन का इनके साथ रागात्मक सम्बन्ध है। मनुष्य अपने स्वभाव से रागप्रधान है। तर्क उसका अर्जन है, उत्तर लाभ है, स्वभाव नहीं। मन की राग-सत्ता के कारण सभी व्यक्ति रागात्मक तो हो सकते हैं किन्तु जरूरी नहीं कि सभी व्यक्ति बौद्धिक भी हों। मन का सम्बन्ध शब्द (नाम) से है और दृष्टि का रूप सेयह सामान्य सत्य है। विशेष सत्य यह है कि देखता मन ही है, अन्यथा तो व्यक्ति देखता हुआ भी नहीं देखता। भाव यह कि मन-संलग्नता से ज्ञानेन्द्रियों का बोध फलित होता है। ज्ञानेन्द्रियों की बोधव्यता के पीछे शब्द से बिंधा मन है। इसी क्षमता के होते जन्मान्ध शब्द से ही रूप का उद्भावन करता है।

समस्त विश्वबोध शब्दाश्रित है। यह विश्व अनन्त और परिवर्तनशील है। इसलिए किसी भी भाषा का शब्दकोष अन्तिम रूप से सम्पन्न नहीं होता। अभिव्यक्ति की नित नूतनता का आधारभूत कारक यही नाना नामरूपात्मक जगत् है। अभिव्यक्ति के माध्यम अनेक हैं और हो भी सकते हैं किन्तु सर्वाधिक सशक्त और सटीक माध्यम शब्द ही है। विभिन्न मुख-मुद्राओं, अँगुलि-चालन, आंगिन चेष्टाओं, नृत्य, चित्र और मूर्ति कलारूपों के अभिप्रेत को समझने-समझाने के लिए शब्द का ही सहारा लेना पड़ता है। अभिप्राय यह कि जीवन और जगत् के सभी क्रियाकलापों और गतियों को

बिना भाषिक शब्दों के न तो समझा जा सकता है और न ही व्याख्यायित किया जा सकता है। यहाँ तक कि महसूस भी नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, स्थूल और सूक्ष्म तथा तर्क्य और अनुभूय, सभी प्रकार की ज्ञानसत्ताओं का पीठासन भाषा-शब्द ही है। इसलिए आचार्य भर्तृहरि का कथन है

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।  
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।<sup>6</sup>

अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के बिना सिद्ध हो। सभी ज्ञान शब्द में बिंध हुए से भासित होते हैं।

यही शब्द मन का विषय बनता है। मनुष्य-मन जगत् के दृश्यों, गतियों और शब्द-ध्वनियों का संघात है। दृश्य और गति दोनों के बोध का माध्यम भी शब्द है। इस प्रकार शब्द मन-मनोवृत्ति और परिवेश है। परिवेश की आश्वस्ति भी शब्द ही है। किसी भी अपरिचित स्थान अथवा विदेश में अपनी ही भाषा के कुछ शब्द सुनकर व्यक्ति-मन में सुरक्षा और आश्वस्ति का कैसा सुखद अनुभव होता है! लगता है कि व्यवहार और संवाद-भूमि पर पैर टिक गए हैं। इस स्थिति को तो वही समझ सकता है जो इससे गुजरा हो। यहाँ प्रासंगिक रूप से यह भी उल्लेखनीय है कि पूरा नाम (संज्ञा शब्द) पूरी आश्वस्ति देता है। सम्भवतः इसलिए हमारी भाषाओं में नामों के आद्यक्षरों (initial) से सम्बोधित करने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। आद्यक्षर से व्यक्ति का पूरा रूप आँखों के सामने नहीं आता। पश्चिम समाज में प्रचलित नामों की आद्यक्षर-प्रणाली के पीछे एक प्रकार की गोपन प्रवृत्ति कार्य करती दृष्टिगत होती है।

स्पष्ट है कि शब्द का मन से और मन का समाज से कारक सम्बन्ध है। शब्द जुड़ते हैं तो परिवार जुड़ते हैं परिवार जुड़ते हैं तो समाज जुड़ता है। शब्द टूटते हैं तो परिवार भी टूटते हैं और समाज तो टूटता ही है। शब्द बोधक है तो बेधक भी है। साधक है तो बाधक भी शब्द ही है। शब्द सन्धि है तो शब्द विग्रह भी है। शब्द ही रूप है तो उस रूप का अर्थ और भाव भी शब्द ही है। शब्द में अनन्त सामर्थ्य है, इसे उद्घाटित करते हुए शास्त्रकार कहता है कि सम्यक् रूप से ज्ञात और सुप्रयुक्त एक शब्द भी इहलोक और परलोक में इच्छित फल देने वाला होता है।<sup>7</sup> इसलिए सच्चे समाजशास्त्री शब्द-प्रयोग की सुष्ठुता को सदा से रेखांकित करते आए हैं। एक अच्छी और प्रबुद्ध सरकार वही है जो राष्ट्रीय श्रव्य और दृश्य अभिव्यक्तियों के प्रति सजग है। सरकार यह देखे कि निश्चित-निर्धारित शब्द-रूपों के अर्थ और लय में किसी प्रकार का अराजक हस्तक्षेप न हो। आखिर ये शब्द-रूप भी राष्ट्रीय धरोहर हैं। और सर्वांग दृष्टि से यह धरोहर अन्य भौतिक धरोहरों से अधिक महत्वपूर्ण व प्राथमिक है। शब्द की यह धरोहर ही ऐसा आधारभूत अधिष्ठान है जिस पर अन्य धरोहरों की स्थिति व अर्थवत्ता निर्भर है। वस्तुतः प्रत्येक राष्ट्र की एक निजी शब्द-लय और ध्वनियों की एक विशिष्ट अनुगूँज होती है जो वहाँ के दिक्-कालिक समाज के इतिहास, परम्परा,

पौराणिकता, धर्म, नीति, दर्शन, साहित्य, कला, सौन्दर्य दृष्टि, नैतिक चेतना और राष्ट्रीय प्रतीक-संज्ञान को धारण करती है तथा जिससे राष्ट्र के आत्मिक स्वरूप का बोध होता है। सो, इस लय और अनुगूँज को जान-बूझकर विचलित या विघटित करना अथवा होने देना एक राष्ट्रीय अपराध माना जाना चाहिए।

इधर कुछ ख्यातनामा संगीतकार 'वन्देमातरम्' राष्ट्रगीत से उसकी सिद्धलय छीनकर उसे क्षिप्र-क्षुब्ध लय में ढाल रहे हैं। ऐसा कला-नीयत से किया जा रहा है, अनजाने में या फिर जान-बूझकर, यह निस्संग भाव से अनुसंधान का विषय हो सकता है किन्तु इसमें कोई विमत नहीं होना चाहिए कि अपनी मूल लय से विच्छिन्न होकर राष्ट्रगीत की मधुर एवं उदात्त भावलहरियाँ तिरोहित हो रही हैं। यदि कोई विदेशी अपने उच्चारण अवयवों के भिन्न अभ्यास के कारण अत्रस्थ शब्द और ध्वनि को सर्वांग भाव से धारण नहीं कर पाता तो बात समझ में आ सकती है क्योंकि ऐसा तो इस राष्ट्र के नाना क्षेत्रीय विस्तार में कहीं-न-कहीं देखने में आता है किन्तु प्रयत्नतः ऐसा करना राष्ट्रीय संस्कारों को आहत करना है।

शब्द के अन्तरंग और बहिरंग की रक्षा करना राष्ट्रहित में आवश्यक है। शब्द-सम्पदा समाज-संगठन की साधनालब्धि है। शब्द के बहिरंग का विस्तरण और अन्तरंग का सम्प्रसरण एक अलग बात है किन्तु किसी दुर्मति द्वारा मूल अन्तरंगण को नष्ट कर उस शब्द का प्रयुक्त किया जाना समाज की ज्ञानधारा को बाधित और विचारबोध को क्लुषित कर सकता है। इस ओर समाज का सावधान और सतत सजग बने रहना आवश्यक है, अन्यथा बलात्कारी, कामातुर, लम्पट और व्यभिचारी व्यक्ति भी प्रेमी कहलाएँगे। इससे प्रेम का पवित्र क्षेत्र तो कलंकित होगा ही, सामाजिक गठन भी टूटेगा और राष्ट्र का यौवन भी विपथगामी होगा। सच बात तो यह है कि आज प्रयुक्त हो रहे अनेक विषय-विसंगत, सन्दर्भच्युत, स्थानभ्रष्ट, अर्थदूषित, कुटिल भावापन्न, लयविक्षिप्त और असमतुल्य शब्द राष्ट्र की बहुत क्षति कर रहे हैं। अंग-अंगी भाव की असमतुल्यता में प्रयुक्त एक शब्द-योजना का कुफल यह राष्ट्र आज भी भोग रहा है। हजारों राजनीतिक असहमतियों के बावजूद कौन इस सत्य को नकार सकता है कि वेदाश्रयी धर्मचिन्तन की मूलधारा सहित शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त, बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज तथा गुरुमतावलम्बी अन्यान्य मत-मतान्तर तत्त्वदृष्टि से भारत-हिन्दू वटधर्म के अंग-उपांग हैं। हृदय के अन्तस्तलीय महाभाव में बहती एकात्म धारा के बीच किसी भेदबुद्धि व्यक्ति द्वारा गढ़ा गया यह नारा कितना असंगत है कि हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई, आपस में सब भाई-भाई। यदि यह कहा जाता कि हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई आपस में सब भाई-भाई, तो कुछ भी असंगत न होता। आखिर भिन्न धर्मावलम्बियों में सहयोगपूर्ण एकता का भाव होना ही चाहिए किन्तु हिन्दू-सिख के अंगी-अंग भाव-सम्बन्ध में पार्थक्य दिखाने का औचित्य क्या है? सहोदर तो एक माँ के बेटे हैं ही। जब लोक जानता है तो

लोक-प्रमाण के लिए उन्हें स्वयं को भाई-भाई घोषित नहीं करना पड़ता। ऐसा कहलवाना तो अपनी सहोदरता को शक्ति बनाना है। एकत्व में पृथकीकरण के बीज बोना है। कौन नहीं जानता कि इतिहास, परम्परा, दर्शन, धर्मचिन्तन, शब्द, संस्कृति, नैतिक चेतना, आस्था, विश्वास, जीवन-पद्धति और रक्त-सम्बन्धों की दृष्टि से हिन्दू-सिखों में अभिन्न वंशधरता की भावधारा प्रवाहित हो रही है। तमाम राजनीतिक छल-छद्म के बीच भी यह भाव अन्तरात्मा में कहीं आज भी यथावत् है। वही शब्द (सबद) है, वही भाव है, वही पुकार है, वही आत्मनिवेदन है, वही कामना है। जीवन और जगत्, जन्म और मृत्यु, काया और माया, लोक और परलोक, स्वर्ग और नरक, सुख और दुःख, पाप और पुण्य, श्रेय और प्रेय, मुक्ति और बन्धन, भक्ति और ज्ञान तथा गुरु और भगवान विषयक एक जैसी शब्दावली और एक जैसा ही अर्थबोध है। ऐसे में एक ही महाधारा के दो शब्दों को प्रतिद्वन्दी रूप में खड़ा करना कहाँ तक न्यायसंगत है?

अवधेय है कि हर राष्ट्र के शब्दों का एक महासेतुक संसार और संस्कार-मंडल होता है जो अपने ही दिक्-कालिक सम्बन्धों से स्वरूपित होता है। व्युत्पत्ति, उद्गम, प्रयोग, सन्दर्भ, अर्थ-प्रसार, ध्वनि-प्रभाव, दिक्-सम्बन्ध, और इतिहास-दृष्टि से शब्द अपने संस्कार-मण्डल में जाग्रत, जीवित एवं चैतन्य बने रहते हैं। इन सम्बन्धों में से किसी एक का अपहरण कर लेना, शब्द को विरुद्ध अथवा विषयान्तर प्रयोग-क्षेत्र में ले जाना, क्षमता के विपरीत अर्थ को संकुचित अथवा व्यापक भूमि में स्थानान्तरित करना, सामान्य अर्थ को विशेष और विशेष अर्थ को सामान्य रूप से प्रयुक्त करना, मनचाहा अर्थ कर्षित करना, अंग-अंगी भाव की अवांछित तुलना करना, शब्द को उसके दिक्-सम्बन्धों से विच्छिन्न कर देना, शब्द की सिद्ध लय-गति एवं विराम को तोड़ देना जैसे भाषिक षड्यन्त्र भारत राष्ट्र के श्रव्य व दृश्य माध्यमों पर अपने आक्रमणों का प्रभाव दिखा रहे हैं। सीमाओं को अतिक्रान्त कर किसी देश-समाज को पराधीन बना लेना गुजरे वक्तों का हथियार हो गया है। अब आक्रमण के मन्तव्य और तौर-तरीके बदल गए हैं। ये शारीरिक से मनोवैज्ञानिक यानी स्थूल से सूक्ष्म हुए हैं। किसी देश-समाज को भीतर से क्षत-विक्षत करने का सर्वाधिक प्रभावी तरीका यही है कि योजनाबद्ध रीति से उसके शब्दों की लय और ध्वनि-अनुगूँजों को विकृत कर दो। दुर्भाग्य से इस राष्ट्र की भाषाओं के साथ ऐसा हो रहा है। जो काम अंग्रेजी फौजें नहीं कर सकीं, उसे मैकालीय मानसिकता अंजाम दे रही है। राष्ट्रीय भाषाओं से भारत का भारतत्व लुप्त हो रहा है। एक अनजाना इण्डिया अँगड़ाई ले रहा है। शायद इसी वजह से राष्ट्र-प्रेम की पवित्र भावनाएँ भी विज्ञापनी लय-गूँज में व्यक्त हो रही हैं, गोया राष्ट्र के प्रति पावन निष्ठा और बाजारू लफ्फाजी में कोई अन्तर ही नहीं है। अर्थविकृत विसंवादी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया जा रहा है। धर्मनिरपेक्ष जैसे अनिश्चित वाच्यार्थ और सन्दर्भ नष्ट शब्द दनदना रहे हैं। दुष्टभाव से कुछ शब्दों को उनके सिद्ध

प्रयोग-अर्थ से हटाकर उनसे नए अर्थ लिए जा रहे हैं। यह ठीक ऐसे है जैसे पाकशाला के पवित्र उपकरणों को शौचालय-प्रयोग में लाया जाए। यह कोई आकस्मिक नहीं है कि योग-भूमि के निरोध और क्षेम-भूमि के रक्षक शब्द को उच्चाशय क्षेत्र से उच्छिन्न कर नीचाशय क्षेत्र में रोपित कर दिया गया है। इस प्रकार उदात्त शब्दों को श्रीहीन कर देने के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रयास जारी हैं। दुर्बुद्धचेता व्यक्ति सक्रिय हैं। समाज लाचारी से सब कुछ होता हुआ देख रहा है। यह दुःखद स्थिति है। जो समाज अपने शब्द-अधिष्ठान की रक्षा नहीं कर सकता, अपने शेष अधिष्ठानों सहित वह समाज स्वयमेव नष्ट हो जाता है।

शब्द की लय टूटती भी है और तोड़ी भी जाती है। अज्ञानवशात् लय टूटती है और दुर्भावना से तोड़ी जाती है। चिन्ता का विषय यह है कि शब्द-लय और अनुगूँज के प्रति सरकारें मूढ़भावस्थ हैं तो समाज उदासीन है। जिस तेजी से शब्द-लय और ध्वनि-अनुगूँजें तोड़ी जा रही हैं, वह कोई शुभ लक्षण नहीं है। 'नरोत्तम को नोरोडम, जय किशन को जैक्सन, रवि को रोबी, कुमार को कूमर और ललित को लौलित' उच्चारित करना राष्ट्रभाषा के औच्चारणिक सामर्थ्य का उपहास उड़ाना तो है ही, मूल व्यक्ति वर्ग को उसकी परम्परा से काट देना है। यह कुटिल कर्म है। शब्द को विसंगत कर उसी के प्रयोग से राष्ट्रभाव को तोड़ने का प्रपंच है। संज्ञा-समूह के विपर्यस्त होते ही राष्ट्रभाव का प्रासाद खड़ा न रह सकेगा। श्रव्य, दृश्य और पाठ्य-माध्यमों के कर्णधार इस ओर निरपेक्ष हैं। इससे पहले कि राष्ट्र की मूल पहचान संकट में पड़ जाए, राष्ट्रीय भाषा-चिन्तकों को इस ओर ध्यान देना होगा।

### सन्दर्भ-स्रोत

1. रामचरितमानस बालकाण्ड18वाँ दोहांश
2. आचार्य शुक्लचिन्तामणि भाग एकरसात्मक बोध के विविध रूप
- 3-4. रामचरितमानस बालकाण्ड20वें दोहे के बाद के चौपाई-अंश
5. आचार्य शुक्लचिन्तामणि भाग एकरसात्मक बोध के विविध रूप
6. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्) कारिका123
7. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति

## पुराण-सन्दर्भ

## असूया-दोष

### विष्णुदत्त शर्मा\*

आज के युग में मनुष्य अपनी पीड़ा और परेशानियों से इतने दुःखी नहीं हैं जितने दूसरों के सुखमय जीवन को देखकर दुःखी हैं। एक भाई के बच्चे यदि पढ़ने में कमजोर हैं तो वह भाई इससे इतने परेशान नहीं जितने दूसरे भाई के बच्चों को आगे बढ़ते देख दुःखी हैं। कुछ व्यक्ति अपने अपमान से इतने सन्तप्त नहीं जितने दूसरों को मिलने वाले सम्मान से दुःखी होते हैं। ऐसे व्यक्ति दूसरों के गुणों में भी अवगुण तलाशते हैं। यह एक असूया-दोष (Fault finding) है अर्थात् ईर्ष्याविश उनके मन में नकारात्मक सोच के कहीं अंकुर फूट रहे हैं। इसका एक मात्र कारण अहंकार और क्रोध है। यह मानसिकता छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, राजा-रंक, शिक्षित-गँवार किसी में भी पाई जा सकती है। अनादिकाल से प्रत्येक युग में इस असूया-दोष से पीड़ित व्यक्ति पैदा होते आए हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

सूर्यवंश के परिवार से आप सभी परिचित हैं। इस वंश में विष्णुपुराण के अनुसार हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी राजा; रघु जैसे दृढ़ निश्चयी शासक; सत्यव्रत जैसे धार्मिक; मांधाता, सगर, दिलीप, दशरथ जैसे योद्धा, श्रीराम जैसे मर्यादापुरुषोत्तम वीर और भगीरथ जैसे पुरुषार्थी चक्रवर्ती सम्राट अवतीर्ण हो चुके हैं। इसी सूर्यवंश में राजा वृक के पुत्र राजा बाहु भी पैदा हो गए हैं जो असूया-दोष से पीड़ित थे।

राजा बाहु बड़े धर्मपरायण थे और सारी पृथ्वी का धर्मपूर्वक पालन करते थे। एक समय राजा बाहु के मन में असूया (गुणों में दोष-दृष्टि) के साथ बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हुआ, जो सब सम्पत्तियों का नाश करने वाला तथा अपने विनाश का भी कारण है। वे सोचने लगे कि समस्त लोकों का पालन करने वाला बलवान् राजा हूँ। मैंने बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया है। मुझसे पूजनीय दूसरा कौन है? मैं विद्वान् एवं श्रीमान् हूँ। मैंने सब शत्रुओं को जीत लिया है। मुझे वेद और वेदांगों के तत्त्व का ज्ञान है और नीतिशास्त्र का तो मैं बहुत बड़ा पंडित हूँ।

\* डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, महासचिव, शोध प्रकाशन अकादमी, 5/48 वैशाली, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

मुझे कोई जीत नहीं सकता और न मेरे ऐश्वर्य को हानि पहुँचा सकता है। इस पृथ्वी पर मुझसे बढ़कर दूसरा कौन है? इस प्रकार अहंकार के वशीभूत होने पर उनके

मन में दूसरों के प्रति दोषदृष्टि हो गई। दोषदृष्टि होने से उस राजा के हृदय में काम प्रबल हो उठा। इन सब दोषों के स्थित होने पर मनुष्य का विनाश होना निश्चित है। यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेकइनमें से एक-एक भी अनर्थ का कारण होता है, फिर जहाँ ये चारों मौजूद हों वहाँ के लिए क्या कहना? उनके भीतर बड़ी भारी असूया पैदा हो गई, जो लोक का विरोध, अपने देह का नाश तथा सब सम्पत्तियों का अन्त करने वाली होती है।

असूया से भरे हुए चित्तवाले पुरुषों के पास यदि धन-सम्पत्ति मौजूद हो तो उसे भूसे की आग में वायु के संयोग के समान समझो। **जिनका चित्त दूसरों के दोष देखने में लगा होता है, जो पाखंडपूर्ण आचार का पालन करते हैं तथा सदा कटुवचन बोला करते हैं, उन्हें इस लोक में और परलोक में भी सुख नहीं मिलता।** जिनका मन असूया दोष (Censure) से दूषित है तथा जो सदा निष्ठुर भाषण किया करते हैं। उनके प्रियजन, पुत्र तथा भाई-बन्धु भी शत्रु बन जाते हैं।

जो परायी स्त्री को देखकर मन-ही-मन उसे प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, वह अपनी सम्पत्ति का नाश करने के लिए स्वयं ही कुठार बन गया हैइसमें संशय नहीं है। जो मनुष्य अपने कल्याण का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है, वही दूसरों का कल्याण देखकर अपनी कुत्सित बुद्धि के कारण उनसे डाह करने लगता है। जो मित्र, सन्तान, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य और पशुसबकी हानि देखना चाहता है, वही सदा दूसरों से असूया करता है।

तदंतर राजा बाहु का हृदय असूया-दोष से दूषित हो जाने के कारण जब वे अत्यन्त उद्वेग हो गए, सब हैहय और तालजंघ-कुल के क्षत्रिय उनके प्रबल शत्रु बन गए। हैहय वंश पुराणानुसार 'यदु' से उत्पन्न एक क्षत्रिय-वंश है जिसमें कार्तवीर्य सहस्रार्जुन उत्पन्न हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण भी इसी वंश में अवतीर्ण हुए थे। पुराणानुसार इस वंश की पाँच शाखाएँ हैं—तालजंघ, वीतिहोत्र, भोज, आवन्ति, और तुण्डिकेर।

आवन्ति के नरेश जयध्वज के पुत्र का नाम तालजंघ था। इनके सौ पुत्र थे जिनमें वीतिहोत्र सबसे बड़े थे कृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य का दूसरा नाम ही 'हैहय' था जो बड़ा भारी तान्त्रिक था। 'कार्तवीर्य तन्त्र' इसी का बनाया है। त्रिलोकविजयी लंकापति रावण भी, इससे युद्ध में हार, बन्दी हो गया था। रामायण और ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार 'कपिला' गौ के पीछे परशुराम के पिता जमदग्नि से यह लड़ा और उनका वध कर डाला था। फलस्वरूप परशुराम ने इसके सहित क्षत्रियों का कई बार संहार किया था। परशुराम के भय से तालजंघ हिमालय भाग गया था और पूर्ण शान्ति के

पश्चात् लौट आया था। इसी ने अयोध्या पर राजा बाहु की सेना पर आक्रमण किया था। और्व ऋषि की शक्ति के कारण ही तालजंघ-वंश का अन्त हुआ था (मत्स्य पुराण 43.47; भागवतपुराण 9.23.28)।

इस प्रकार ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार तथा दूसरों के गुणों में दोष निकालने वाले एवं असूया-दृष्टिकोण होने पर दूसरे जीवों के साथ द्वेष बहुत बढ़ जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। असूया से दूषित चित्तवाले उस राजा बाहु का अपने शत्रुओं के साथ लगातार एक मास तक भयंकर युद्ध होता रहा अन्त में वे अपने वैरी हैहय और तालजंघ नाम वाले क्षत्रियों से पराजित हो गए। सूर्यवंशी राजा बाहु के दो पत्नियाँ थीं। छोटी रानी का नाम यादवी था जिसको कालिन्दी भी कहते थे और गर्भवती थी। राजा बाहु की बड़ी रानी ने ईर्ष्यावश छोटी रानी को विष दे दिया किन्तु पुण्य के प्रभाव से विष का प्रभाव नहीं हुआ। हैहयवंश वालों तथा तालजंघों ने शक, यवन, कंबोज, पारद और पहलवों आदि जातियों की सहायता से राजा बाहु को सपत्नी राज्य से निष्कासित कर दिया।

अंतः दुःखी होकर राजा बाहु अपनी दोनों पत्नियों के साथ वन में चले गए। वहाँ एक बहुत बड़ा तालाब देखकर उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ, परन्तु उनके मन में तो असूया भरी हुई थी, इसलिए उनका भाव देखकर उस जलाशय के पक्षी भी इधर-उधर छिप गए। वे परस्पर बातें करते हुए कहने लगे 'अहो! बड़े कष्ट की बात है। यहाँ तो कोई भयानक पुरुष आ गया।' राजा ने अपनी दोनों पत्नियों के साथ उस सरोवर में प्रवेश करके जल पीया और वृक्ष के नीचे उसकी सुखद छाया में बैठ गए। गुणवान् मनुष्य कोई भी क्यों न हो, वह सब के लिए प्रशंसनीय होता है और सब प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त होने पर भी गुणहीन मनुष्य सदा लोगों से निन्दित ही होता है। उस समय बाहु की बहुत निन्दा हुई थी। वे संसार में अपने पुरुषार्थ और यश का नाश करके मरे हुए की भाँति वन में रहते थे। अपकीर्ति के समान कोई मृत्यु नहीं है। क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है। निन्दा के समान कोई पाप नहीं है और मोह के समान कोई भय नहीं है। असूया के समान कोई अपकीर्ति नहीं है, काम के समान कोई आग नहीं है, रोग के समान कोई बन्धन नहीं है और संग अथवा आसक्ति के समान कोई विष नहीं हैइस प्रकार बहुत विलाप करके राजा बाहु अत्यन्त दुःखित हो गए। मानसिक सन्ताप और बुढ़ापे के कारण उनका शरीर जर्जरीभूत हो गया। इस तरह बहुत समय बीतने के पश्चात् और्व मुनि के आश्रम के निकट रोग से ग्रस्त होकर राजा बाहु संसार से चल बसे।

उनकी छोटी पत्नी यद्यपि गर्भवती थी तो भी दुःख से आतुर हो दीर्घकाल तक विलाप करके उसने पति के साथ चिता पर जल मरने का विचार किया। इसी बीच में परम बुद्धिमान् और्व मुनि, जो महान् तेज की निधि थे, वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने समाधि के द्वारा यह सब वृत्तान्त जान लिया था। मुनीश्वरगण तीनों कालों के ज्ञाता होते हैं।

वे असूयारहित महात्मा अपनी ज्ञानदृष्टि से भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ देख लेते हैं। परम पुण्यात्मा औरव मुनि उसी स्थान पर आए, जहाँ राजा बाहु की प्यारी एवं पतिव्रता पत्नी खड़ी थी। रानी को चिता पर चढ़ने के लिए उद्यत देख मुनिवर औरव धर्ममूलक वचन बोले 'महाराज बाहु की प्यारी पत्नी! तू पतिव्रता है; किन्तु चिता पर चढ़ने का अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य न कर। तेरे गर्भ में शत्रुओं का नाश करने वाला चक्रवर्ती बालक है। कल्याणमयी राजपुत्री! जिनकी सन्तान बहुत छोटी हो, जो गर्भवती हों, ऐसी स्त्रियाँ पति के साथ चिता पर नहीं चढ़तीं उनके लिए चितारोहण का निषेध है।'

मुनि के इस प्रकार कहने पर पतिव्रता रानी को उनके वचनों पर विश्वास हो गया और वह अत्यन्त दुःख से पीड़ित हो अपने मरे हुए पति के चरणकमलों को पकड़कर विलाप करने लगी। महात्मा औरव सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। वे रानी से पुनः बोले 'राजकुमारी तू रो मत, तुझे श्रेष्ठ राजलक्ष्मी प्राप्त होगी। महाभाग! इस समय सज्जन पुरुषों के सहयोग से इस मृतक शरीर का दाह-संस्कार करना उचित है, अतः शोक त्यागकर तू समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी सब पर मृत्यु की समान दृष्टि है। नगर में हो या वन में, समुद्र में हो या पर्वत पर, जिस जीव ने जो कर्म किया है, उसे उसका भोग अवश्य भोगना होगा। जैसे दुःख बिना बुलाए ही प्राणियों के पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं ऐसी मेरी मान्यता है। इस विषय में देव ही प्रबल है। पूर्वजन्म के जो-जो कर्म हैं, उन्हीं-उन्हीं को यहाँ भोगना पड़ता है। कमलानयने! जीव गर्भ में हो या बाल्यावस्था में, जवानी में हो या बुढ़ापे में, उन्हें मृत्यु के अधीन अवश्य होना पड़ता है। अंतःसुब्रते! इस दुःख को त्यागकर तू सुखी हो जा। पति का अन्त्येष्टि-संस्कार कर और विवेक के द्वारा स्थिर हो जा। यह शरीर कर्मपाश में बँधा हुआ तथा हजारों दुःख और व्याधियों से घिरा हुआ है। इसमें सुख का तो आभास ही मात्र है। क्लेश ही अधिक होता है।'

परम बुद्धिमान् औरव मुनि ने रानी को इस प्रकार समझा-बुझाकर उससे दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाए। फिर उसने शोक त्याग दिया और मुनीश्वर को प्रणाम करके कहा 'भगवन्! आप-जैसे सन्त दूसरों की भलाई की ही अभिलाषा रखते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। पृथ्वी पर जितने भी वृक्ष हैं, वे अपने उपभोग के लिए नहीं फलते उनका फल दूसरों के ही काम आता है। इसलिए जो दूसरों के दुःख से दुःखी और दूसरों की प्रसन्नता से प्रसन्न होता है, वही नररूपधारी जगदीश्वर नारायण है। सन्त पुरुष दूसरों का दुःख दूर करने के लिए शास्त्र सुनते हैं और अवसर आने पर सबका दुःख दूर करने के लिए शास्त्रों के वचन कहते हैं। जहाँ सन्त रहते हैं, वहाँ दुःख नहीं रहता; क्योंकि जहाँ सूर्य है, वहाँ अंधकार कैसे रह सकता है?'

इस प्रकार कहकर रानी ने उस तालाब के किनारे मुनि की बताई हुई विधि के

अनुसार अपने पति की अन्य पारलौकिक क्रियाएँ संपन्न कीं। वहाँ औरव मुनि के स्थित होने से राजा बाहु तेज से प्रकाशित होते हुए चिता से निकले और श्रेष्ठ विमान पर बैठकर मुनीश्वर औरव को प्रणाम करके परम धाम को चले गए। जिन पर महापुरुषों की दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातक से युक्त होने पर भी अवश्य परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। पुण्यात्मा पुरुष यदि किसी के शरीर को, शरीर की भस्म को अथवा उसके धुएँ को भी देख लें तो वह परम पद को प्राप्त हो जाता है।

महर्षि औरव राजा बाहु की विधवा रानी को चिता से हटाकर अपने आश्रम में ले आए जहाँ यादवी के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र गर (विष) के साथ उत्पन्न होने के कारण महर्षि औरव ने बच्चे का नाम 'सगर' (नारदपुराण 6.67; 7.15; 41-42, 52-54, 74-75) रखा। सगर का विवाह काश्यप की पुत्री सुमति तथा विदर्भराज की पुत्री केशिनी से हुआ था। भृगुवंशी मन्त्रवेत्ता औरव के आशीर्वाद से विदर्भ राजकन्या केशिनी के गर्भ से असमंजस नाम का एक पुत्र हुआ। इसके अंशुमान् नामक पुत्र हुआ। असमंजस उद्वण्ड तथा घमण्डी होने के कारण सगर के राज्य से निकलवा दिया गया। सगर की दूसरी रानी काश्यप पुत्री सुमति के गर्भ से साठ हजार पुत्र हुए जो असमंजस के साथ सब-के-सब दुष्ट हो गए। इन 60,000 पुत्रों को कपिल मुनि ने जलाकर भस्म कर दिया था। इन पुत्रों के शव अंशुमान् ने ही ढूँढ निकाले। अंशुमान् के पुत्र दिलीप हुए जो भगीरथ के पिता थे। राजा भगीरथ, विदुसर (निकट गंगोत्री) के तट पर घोर तप करके गंगा को पृथ्वी पर लाए थे और कपिल मुनि के शाप से भस्म हुए अपने पूर्वजों का इन्होंने उद्धार किया था। इसी से गंगा का नाम भागीरथी (ब्रह्मांड पुराण 3.54.48-51; वायुपुराण 47-49) भी है। राजा भगीरथ सूर्यवंश में चालीसवें स्थान पर हैं। जबकि राजा दशरथ का स्थान साठ है। सगर के पिता राजा बाहु का वंशावली में पैंतीसवाँ स्थान है। इस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का कुल भारतीय संस्कृति में अमर हो गया। धन्य है सूर्यवंश जो युगों-युगों तक अमर होकर हमारा मार्गदर्शन करता रहेगा।

With Best Compliments  
from  
**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**  
Administrative Office  
LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office  
1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,  
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848

## मीडिया : आतंकवाद उर्फ 'पशु का उदय'

देवेन्द्र इस्सर\*

“जीवित रहूँगा मैं/अन्धे बर्बर पशु-सा/...वध, केवल वध, केवल वध/अन्तिम अर्थ बने/मेरे अस्तित्व का/...मैं योद्धा नहीं हूँ/बर्बर पशु हूँ/...सुन लो यह घोषणा/इस अन्धे बर्बर पशु की/पक्ष में नहीं है जो मेरे/वह शत्रु है।”

अन्धा युग (1954), धर्मवीर भारती

“इक्कीसवीं सदी में सैद्धान्तिक द्वन्द्व पूँजीवादी प्रजातन्त्र और साम्यवादी सर्वसत्तावाद में नहीं अपितु उदार लोकतन्त्र तथा अन्ध युग की मानसिकता में होगा।”

पावर-शिफ्ट : ज्ञान, धन दौलत तथा हिंसा  
इक्कीसवीं सदी के मोड़ पर (1990), एल्विन टाफ्लर

हम बड़े ही नाजुक एवं भयानक दौर से गुजर रहे हैं जिसमें 'सुपरा मतान्धता' मजहबी जुनून, अस्मिता की राजनीति तथा बन्द विचार-पद्धतियों का एक-एक ऐसा चक्रव्यूह रच रही है जिसका प्रयोग समाजों, सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं बहुलताओं को ध्वस्त करके 'नरपशु' के साम्राज्य की स्थापना के लिए किया जा रहा है। मुक्ति के नाम पर, जिहाद के नाम पर, अस्मिता और क्षेत्रीयता के नाम पर, धर्मयुद्ध के नाम पर, लोकयुद्ध के नाम पर, माओ और मार्क्स के नाम पर...और न जाने किस-किसके नाम पर विध्वंस का ताण्डव-नृत्य जारी है। लेकिन इस सबका एक ही नाम है आतंकवाद। और एक ही उद्देश्य है कि “जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने/सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में/सदा-सदा के लिए होगा विलीन वह।” आतंकवाद इसका अस्त्र है और 'अन्तवाद' इसका मन्त्र। इसके चेहरे अलग-अलग हो सकते हैं लेकिन इसका 'मन्त्र प्रेरित यन्त्र' एक ही है 'वध, केवल वध, केवल वध।’

\* बी-3/153, जनकपुरी, दिल्ली-110 058.

## आतंकवाद का स्वरूप

“लोकतन्त्र, सेक्युलरवाद, राष्ट्रवाद की अवधारणाओं ने अतीत के बुतों की जगह ले ली है। हमारा यह फर्ज है कि इन अवधारणाओं को नेस्तोनाबूद कर दें। और अल्लाह की हकूमत के तहत खिलाफत का निजाम कायम करें।”

स्टूडेण्ट इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इण्डिया

“जिस व्यक्ति ने अपने हाथ वर्ग शत्रुओं के खून में नहीं रंगे उसे कम्युनिस्ट कहना कठिन है।”

भारतीय कम्युनिष्ट पार्टीमाओवादी

आतंकवादी संगठनों द्वारा समय-समय पर अक्सर ऐसे बयान जारी किए जाते हैं। समूहों, सम्प्रदायों और ‘कल्ट्स’ के नाम बदलते रहते हैं लेकिन माध्यम और मन्तव्य वही रहते हैं आतंक द्वारा प्रभुत्व की प्राप्ति। क्योंकि आतंकवाद अपनी प्रवृत्ति तथा प्रक्रिया में मतान्धता तथा मूलवाद की मानसिकता का ही व्यावहारिक प्रयोग है।

यदि एक ओर फिदायीन-मुजाहिदीन वैश्विक पैमाने पर जिहाद कर रहे हैं तो दूसरी ओर ‘क्रान्ति’ के लिए सशस्त्र संघर्ष भी जारी है। ये सभी समूह किसी-न-किसी रूप में परस्पर सम्पृक्त हैं और ऐसे नेटवर्कों में सक्रिय हैं जिनका कार्यक्षेत्र कोई भी हो लेकिन वे वध, विध्वंस, विस्फोट एवं विघटन में विश्वास रखते हैं। वे समाज तथा समुदायों को वर्ग, वर्ण, धर्म, भाषा, क्षेत्रीयता, जातीयता, संस्कृति, अस्मिता, विचारधारा आदि के नाम पर ‘हम’ और अन्य/वे के अन्यनिषेधात्मक वृत्तों में इस प्रकार विभाजित कर देते हैं कि ऐसा वातावरण निर्मित हो जाए कि ‘हम’ यह मानने लगें कि ‘वे’ के विनाश के बगैर मुक्ति मुमकिन नहीं। ‘हम’ ‘वे’ का इस प्रकार राक्षसीकरण करते हैं कि जार्ज आर्वेल के उपन्यास **ऐनीमल फार्म** का स्मरण हो आता है। यह ऐसा पशुबाड़ा है जिसमें मानव को निष्कासित कर दिया जाता है। और इस प्रकार होता है पशु का उदय। मुझे यहाँ आर्थर कोएसलर के उपन्यास **ब्रेव न्यू वर्ल्ड** में मुस्तफा मांड की याद आती है : “इस संसार में मनुष्य के विवेक और ज्ञान को नष्ट करके एक ऐसे समाज की रचना की जा रही है जिसमें वैयक्तिक स्वत्व और स्वतन्त्रता जैसी कोई अवधारणा नहीं होगी। मनुष्य संगठन से सम्पूर्ण तौर पर तादात्म्य स्थापित कर चुका होगा। साहित्य, कला और दर्शन, मनुष्य की समस्त सोच, संवेदना और सौन्दर्यानुभूति के स्रोतों को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। आर्वेल के उपन्यास **उन्नीस सौ चौरासी** में ओब्रीन विंटसन स्मिथ से कहता है : “हमारी दुनिया में भय, क्रोध, विजय के उल्लास और आत्मविस्मृति के अतिरिक्त कोई भावना नहीं होगी। कोई कला, साहित्य तथा विज्ञान नहीं होगा। और यह मत भूलो विंटसन कि असीम शक्ति का नशा होगा। निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति का नशा। हम एक ऐसे संसार की रचना कर रहे हैं।”

यह है वह संसार जो आतंकवाद तैयार कर रहा है। जिसका आधार केवल शक्ति है निरमम निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति जो ‘वध, केवल वध, केवल वध’ से प्राप्त होगी। इस शक्ति को हासिल करने के लिए ‘हम’ और ‘वे’ की शत्रुतापूर्ण स्पर्धा भावना अनिवार्य है। माइकल डिडविन के कथनानुसार, “सच्चे दुश्मन के बगैर सच्चा दोस्त नहीं हो सकता। जब तक हम उससे, जो हम नहीं हैं, घृणा नहीं करते, हम उससे जो हम हैं, प्यार नहीं कर सकते...जो इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते वे अपने परिवार, अपने विरसे, अपनी संस्कृति तथा अपने आत्म तक को अस्वीकार कर रहे हैं। इन्हें आसानी से क्षमा नहीं किया जा सकता।” डैड लगून

अस्मिता का प्रश्न मूलतः पहचान और शिनाख्त का प्रश्न है। और शिनाख्त हमेशा ‘अन्य’ की तुलना में ही मुमकिन है। अतः अन्य का अस्तित्व अनिवार्य है। यह अन्य ‘वे’ हैं जो ‘हम’ से भिन्न हैं। यह भिन्नता ‘हम’ से ‘वे’ की दूरी और दुश्मनी पैदा करती है। यह विभेद समाज में व्यक्तियों को सफेद और स्याह वृत्तों में विभाजित कर देता है। स्याह वृत्त के व्यक्ति दानवीय वृत्त के हैं। परिणामस्वरूप अन्य का राक्षसीकरण किया जाना आवश्यक है। यदि हम सुरक्षित रहना चाहते हैं और विकसित होना चाहते हैं तो अन्य को शिकस्त देना आवश्यक है। समाज में व्यक्तियों, विचारों और व्यवस्थाओं का विभाजन कुछ इस प्रकार किया जाता है कि विभेद विरोध का स्वरूप ले लेता है। विरोध में युद्धनाद होता है। संवाद के बजाय विवाद होता है। इसमें सन्धि और समन्वय के स्वर लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार कालान्तर में अस्मिता के अभिनेता वैर-वीरता के रंगमंच की रचना करते हैं और अस्मिता की रक्तरंजित राजनीति का खेल शुरू हो जाता है। और यह तामसिक तमाशा उस समय तक जारी रहता है जब तक कि ‘हम’ या ‘वे’ में कोई एक पराजित या ध्वस्त नहीं हो जाता। ‘वे’ विनाश की इस लीला में इस विश्वास से भाग लेते हैं कि वे अपनी अस्मिता की अक्षुण्णता के लिए ‘अन्य’ का अन्त कर रहे हैं। अन्त करने की आक्रामक प्रक्रिया अन्ततः आतंकवाद में परिणत हो जाती है। अस्मिता का प्रश्न सामान्य तौर पर राजनीतिक रणनीति तथा आतंकवाद का निर्णायक या मूल प्रश्न बनता जा रहा है। मजहब हो या जाति, नस्ल हो या एथ्निसिटी, संस्कृति हो या भाषा, क्षेत्र हो या विचार-पद्धति सब अस्मिता जनित हिंसा का रूप ले लेते हैं।

प्रश्न यह है कि आजकल क्यों इतने सारे लोग इस ओर अग्रसर हो रहे हैं जबकि ‘आइडेंटिटी पॉलिटिक्स इज ए ब्लड बायलिंग ब्लडी बिजिनेस’ जिन समुदायों में यह इच्छा तीव्र और प्रबल हो जाती है वे प्रायः इसे उग्र रूप में प्रकट करते हैं। सामुदायिक अस्मिता में बड़ी सम्मोहक शक्ति है। बड़ा चुम्बकीय आकर्षण है वैयक्तिक तौर पर भी और सामूहिक रूप में भी। जिसके कारण लोग सीमित सोच-समूहों तथा द्वेष-द्वेषों में सिमटते चले जाते हैं। और यँ शुरू होती है आतंक की राजनीति और मनुष्य की नरपशु में परिणति। आतंकवादी निरन्तर उन लोगों की तलाश में सक्रिय

रहते हैं जो उनके कारिन्दे, कैरियर और कुरियर तथा 'स्लीपर' बनकर उनकी मदद कर सकें। इन्हें वे इस प्रकार प्रशिक्षित तथा 'इनडॉक्ट्रीनेट' करते हैं कि वे सैलानियों तथा पत्रकारों का अपहरण करने में झिझक महसूस नहीं करते। वे मादक पदार्थों की तस्करी करते हैं। अंडरवर्ल्ड से सम्पृक्त होकर जघन्य अपराध करते हैं और मासूम लोगों की हत्या करते हैं। कालान्तर में वे अभ्यस्त अपराधी और हत्यारे बन जाते हैं। 'आदर्श' और 'उद्देश्य' पीछे छूट जाते हैं। साधन साध्य बन जाते हैं। ऐश्वर्य और ऐय्याशी की जिन्दगी बसर करना उनका ध्येय बन जाता है। और यूँ परवरिश होती है नरपशु की जिसका लक्ष्य होता है 'वध, केवल वध, केवल वध'।

## मीडिया मध्यस्थित आतंकवाद

*"हम बस बम विस्फोट कर देंगे। शेष काम मीडिया कर देगा।"*

एक आतंकवादी कथन

"लंदन में 7 जुलाई, 2005 के बम धमाकों के पश्चात् बीबीसी ने अपने संवाददाताओं को यह निर्देश दिया कि वे इस प्रसंग में आतंकवादी शब्द का प्रयोग न करें। सोमवार (11 जुलाई) की रात को कहा गया कि यह शब्द उत्तेजक है। इस शब्द के प्रयोग से बीबीसी की निष्पक्षता की ख्याति को हानि पहुँचेगी। लेकिन इस निर्देश की गम्भीरता के मद्देनजर इसे लिखित तौर पर जारी नहीं किया गया। लेकिन 'डेली मेल' को यह सबूत मिले हैं कि बीबीसी द्वारा प्रसारित समाचारों में इस निर्देश का पालन करते हुए पुनः सम्पादन किया जा रहा है।"

एक खबर ( **टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 13 जुलाई, 2005)

मारे जाने वालों और मारने वालों के बीच यह कैसी निष्पक्षता है! मीडिया मध्यस्थित आतंकवाद की यह महज एक मिसाल है।

मीडिया (प्रिण्ट और इलेक्ट्रॉनिक) और आतंकवाद में एक सहजीवी, सिम्बियाटिक सम्बन्ध रहा है। आतंकवादी संगठन अपने उद्देश्यों की परिपूर्ति और कार्यक्रमों के प्रसार-प्रचार के लिए मीडिया का भरपूर प्रयोग करते हैं और मीडिया भी इस प्रसार-प्रचार में इस्तेमाल होने के लिए सदैव तैयार रहता है। पब्लिसिटी आतंकवाद के लिए ऑक्सीजन का काम करती है। मीडिया उसे यह प्राणवायु मुहय्या कराता है। मुफ्त त्वरित वैश्विक पब्लिसिटी। आतंकवादी यही चाहते हैं। आतंकवादी मीडिया का प्रयोग किस प्रकार करते हैं यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि मीडिया प्रसारण द्वारा वे अपना सन्देश किन और कितने लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं। दरअसल उनका निशाना सिर्फ उन लोगों तक ही सीमित नहीं होता जिनको वे बन्धक बनाते हैं या जिन पर वे हमला करते हैं। बल्कि ग्लोबल टेलीविजन द्वारा वे उन वैश्विक लक्षित

दर्शकों तक पहुँचना चाहते हैं जिन्हें सक्रिय सहयोग या वैयक्तिक उपस्थिति के बगैर ही प्रभावित किया जा सकता है। धमाकों की एक सीमित जगह और ध्वनि होती है। लेकिन मीडिया द्वारा उसके दृश्यों को दुनिया भर में दिखाया जाता है और उसकी आवाज सारे संसार में सुनाई देती है। समाचार माध्यम उनके सन्देश को लक्ष्य तथा अन्य लोगों तक पहुँचाने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। इस प्रकार वे अपनी सार्वभौमिक शक्ति का प्रदर्शन तथा शब्दाडम्बरी संवाद / रेट्रिकल डिस्कोर्स स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। वे वीडियो टेपों तथा उसके प्रतिलेखों / ट्रांसक्रिप्टों के जरिए अपने प्रचार के लिए मीडिया का ही प्रयोग करते हैं। जहाँ उनकी पहुँच नहीं होती मीडिया उनके 'सन्देश' को वहाँ तक ले जाता है। अतः आतंकवाद किसी एक विशेष देश या प्रदेश तक सीमित नहीं रह गया अपितु वैश्विक विध्वंस का प्रतीक बन गया है। मीडिया का ग्लोबल प्रसारण उसके लिए अत्यधिक आवश्यक है। इस प्रकार आतंकवाद के लिए मीडिया और मीडिया के लिए आतंकवाद सम्पूरक बन जाते हैं। यह एक बड़ी ही जटिल स्थिति है। मीडिया के लिए ताजा समाचार / 'ब्रेकिंग-न्यूज' तथा त्वरित / 'लाइव' प्रसारण अहम है। मीडिया आतंकवादी हमले और मुठभेड़ के नाटकीय, दर्शनीय और सनसनीखेज दृश्य प्रस्तुत करता है और आतंकवादी इन्हें पुनर्निवेशन / 'फीडबैक' के लिए इस्तेमाल करता है और इस फीडबैक से प्राप्त जानकारी के अनुरूप अपनी रणनीति में परिवर्तन करता है और निर्देश देता है।

एक मार्केट अर्थव्यवस्था तथा खुले समाज में मीडिया जिस स्पर्धा से परिचालित होता है वह ऐसा दबाव उत्पन्न करती है कि वे आतंकवादी हमले, विस्फोटों तथा प्रचार को प्रसारित करने पर विवश हो जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि आतंकवाद मीडिया का सौतेला भाई है जिसे वह न छोड़ सकता है और न अपना सकता है।

आतंकवाद न केवल अधुनातन अस्त्रों-शस्त्रों का इस्तेमाल करता है बल्कि सम्प्रेषण की आधुनिकतम प्रौद्योगिकियों का प्रयोग भी करता है। अपने प्रचार के लिए वे इंटरनेट का भरपूर प्रयोग कर रहे हैं। 7/7 के लंदन धमाकों के फौरन बाद ही इंटरनेट पर पोस्ट कर दिया गया कि हमने लंदन को दहला के रख दिया है। हमारी जीत निश्चित है। ग्रेट ब्रिटेन का अंत आ गया है। दुनिया भर में इस जीत का जश्न मनाया जा रहा है। **एन्साइक्लोपीडिया ऑफ जिहाद** के इंटरनेट संस्करण में 600 पृष्ठों से अधिक की सामग्री दी गई है। इस सामग्री में बताया गया है कि हत्याएँ कैसे की जाएँ। विस्फोटक उपकरण कैसे बनाए जाएँ। आत्मघाती फिदायीन कैसे काम करें। बारूदी सुरंगें कैसे बिछाई जाएँ। हाई पॉवर माइक्रोवेव (एच.पी.एम.) का प्रयोग कम्प्यूटरों, कारों, विमानों आदि को नष्ट करने के लिए किस प्रकार किया जाए। यही नहीं हृदयरोग, चर्मरोग, नेत्ररोग, कैंसर तथा सिरदर्द आदि के लिए भी इसका प्रयोग किया जा रहा है। आतंकवादी गुप्त भाषा (कोड) के सम्प्रेषण के लिए भी नई तकनीकों / टेक्नोलॉजियों का इस्तेमाल करता है। मैसेजबोर्ड से लेकर मल्टी मीडिया

तक, उपग्रहों से लेकर इंटरनेट तक आतंकवाद का नेटवर्क काम कर रहा है।

## आतंकवाद का रक्तरंजित रंगमंच

“आधुनिक आतंकवाद को रंगमंच की जरूरतों की शब्दावली में समझा जा सकता है। आतंकवादी पटकथा की तैयारी पर ध्यान देते हैं। किरदारों का चयन करते हैं; सेट्स, प्राप्स, रोल प्ले और रंगमंच की हर मिनट की व्यवस्था काते हैं।”

विमैन और विन् 1994

“बस मुझे तथ्य दो जैसा कि तुम उनकी कल्पना करते हो।”

एक कार्टून का शीर्षक

“इसका विकृत परिणाम यह है कि हम आतंकवादियों के मौन सहयोगी बन जाते हैं। आतंकवाद सिर्फ मृत्यु तथा विनाश तक सीमित नहीं। इसका सम्बन्ध भय उत्पन्न करना है, संशय पैदा करना है, जननेतृत्व में विश्वास को क्षीण करना है। लोगों तथा राज्यों को वे कार्य करने के लिए उकसाना है जो वे अन्यथा नहीं करते। यह हमारे मन पर भी उतना ही प्रहार है जितना कि हमारे शरीरों पर।”

राबर्ट सेम्यूलसन, ‘अन्विटिंग अकम्प्लिशंस’, वाशिंगटन पोस्ट 7 नवम्बर, 2001

टेलीविजन पर्दे पर लोगों के रक्तरंजित शरीर और उनकी चीत्कार तथा आग की लपटें नाटकीय और सनसनीखेज छवियों का एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत करता है जो संगीन से ज्यादा रंगीन होता है। विनाश और विध्वंस की दहशत और वहशत खबर से अधिक इन्फोटेनमेंट का रंगमंच बन जाती है। फैंकट और फिक्शन का फर्क मिट जाता है। मीडिया ‘नई पत्रकारिता’ तथा साहित्यिक विधा फैंकशन (फैंकट + फिक्शन) का बखूबी इस्तेमाल करता है। अफवाहों और अनुमानों का बाजार गर्म हो जाता है। दरअसल मीडिया की ‘ओवरकिल’ आतंकवादियों के लिए ‘ओवरजाय’ बन जाती है।

मीडिया अपने बारे में सच की प्रस्तुति का जो भी दावा करे लेकिन हकीकत यह है कि वह भी राजनीतिक दल की भाँति कार्य करता है। उसका भी अजेंडा होता है। यदि हम यह न भी स्वीकार करें कि उसकी विशेष विचार-पद्धति या प्रतिबद्धता होती है तो भी व्यापार और विज्ञापन के दबाव तथा राजनीति-प्रेरित प्राथमिकताओं और रुझानों से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुपरकता तथा निष्पक्षता महज भ्रम है। न्यूज और व्यूज का एक समन्वित पैकेज इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वह दर्शकों/श्रोताओं के लिए विश्वसनीय बन जाए। शायद इसीलिए अब मीडिया के कुछ लोग वस्तुपरकता, ‘ऑब्जेक्टिविटी’ के बजाय आत्मपरक वस्तुपरकता, ‘सब्जेक्टिव ऑब्जेक्टिविटी’ की बात करने लगे हैं।

यही कारण है कि मीडिया अपनी इस आत्मनिष्ठ वस्तुपरकता के कारण किसी व्यक्ति या घटना का महिमागान करता है और किसी का राक्षसीकरण। उसमें कुछ शामिल कर देता है और कुछ निष्कासित। इसके लिए मीडिया कई प्रकार की तकनीकों का प्रयोग करता है जिसका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं। दरअसल मीडिया द्वारपाल की भूमिका निभाता है। वह निर्णय करता है कि कौन भीतर प्रवेश कर सकता है और किसका प्रवेश निषेध है।

## नाटक-दर-नाटक : मीडिया और पब्लिक बुद्धिजीवी

एक पत्रकार ने दुख भरे स्वर में कहा

“यदि मेरे लिए बेसलान के बंधक बच्चों की भयावह त्रासदी से अधिक सन्तप्त करने वाली कोई बात है तो वह दुनिया भर में लिब्रल (उदार?) बुद्धिजीवियों द्वारा उस विकरालता को न्यायसंगत ठहराना है। आह, बेचारे चेचन्यवासी। उनके आक्रोश को कौन दोष दे सकता है जबकि रूस उनके साथ दुर्व्यवहार करता है।”

कुछ व्यक्ति मीडिया के प्यारे (मिडिया) डार्लिंग होते हैं जिन्हें प्रायः बुद्धिजीवी (इण्टेलैक्चुअल) की संज्ञा दी जाती है जो वास्तव में विचारधाराओं और पूर्वाग्रहों से इतने ग्रस्त होते हैं कि वे वस्तुओं, विचारों तथा व्यक्तियों को हमेशा सफेद और स्याह के रूप में ही देखते हैं। इन लोगों का मीडिया पर बड़ा प्रभाव होता है और मीडिया भी अपने उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिए इनका भरपूर इस्तेमाल करता है। आतंकवादी इस बात को भलीभाँति समझते हैं कि वे ऐसे प्रश्न उठाएँगे जो प्रकट या परोक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से आतंकवाद के इश्यूज को डिफ्यूज कर देंगे। और इस प्रकार उनका पब्लिक सपोर्ट सिस्टम सुदृढ़ होगा। वे देश जो आतंकवाद का शिकार होते हैं उनमें इतना साहस नहीं होता कि वे मीडिया तथा इन बुद्धिजीवियों का सामना करते हुए कह सकें कि वे एक शैतानी शक्ति का शिकार बनाए जा रहे हैं।

बुद्धिजीवी वर्ग कई प्रकार की मिथकों की रचना करता है जो प्रायः इन मॉडलों पर आधारित होते हैं। असहमति तथा अवरोध (डिसेन्ट तथा रेजिस्टेंस) मॉडल जिसके तहत व्यवस्था विरोध अनिवार्य शर्त है। राज्य सदैव दमनकारी होता है। राज्य द्वारा की गई हिंसा सदा ही व्यक्ति/व्यक्तियों द्वारा की गई हिंसा से अधिक खतरनाक होती है। बहुसंख्यक लोगों द्वारा की गई हिंसा अल्पसंख्यकों द्वारा की गई हिंसा से अधिक घातक होती है। (यहाँ सर्वोच्च न्यायालय की एक टिप्पणी का उल्लेख आवश्यक है कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के भेद को समाप्त करने की आवश्यकता है।)

बुद्धिजीवी खुले समाज में नैतिक पूर्णवाद, सम्पूर्ण निश्चितता तथा राजनीतिक तौर पर सही (पॉलिटिकली करेक्ट) विचारधारा पर अमल करते हैं। पब्लिक

बुद्धिजीवी हिंसा तथा जुल्म के बारे में चयनकृत दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। महत्त्वपूर्ण उनका दृष्टिकोण है न कि जुल्म। जुल्म जुल्म है चाहे वह राज्य या पुलिस द्वारा हो या आतंकवादी द्वारा। वह हिटलर के यातना-गृहों में हो या स्टालिन के लेबर कैम्पों में। यह बात प्रायः वे विस्मृत कर देते हैं। वे आतंकवादियों के 'मानवीयकरण' में अहम भूमिका निभाते हैं। पब्लिक बुद्धिजीवी हमें बार-बार याद दिलाता है कि आखिर भगतसिंह को भी तो आतंकवादी कहा जाता था। उनके लिए राष्ट्रभक्ति एक भद्दा शब्द है। युद्धवाद है। नस्ली सफाई का पर्यायवाची है।

चेस्टर ई. फिन्, जूनियर ने अपने एक पुराने परिचित जो उच्च शिक्षा के नेतृत्व में प्रतिष्ठित नाम है, से अपनी वार्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "जब मैंने उनसे पूछा कि क्या 9/11 के आतंकवादी हादसे के पश्चात् तुम यह महसूस नहीं करते कि हमारा पाठ्यक्रम बहुलतावाद पर अत्यधिक बल देता है लेकिन देशभक्ति पर जोर नहीं देता तो उसने कहा मैं तुम्हारी बात को अस्वीकार नहीं करता। लेकिन क्या देशभक्ति शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है? इससे हममें से बहुतों को बड़ी असुविधा होती है।"

टीचर्स, टेस्ट्रिस एण्ड टॉलरन्स, कॉमन्टरी दिसम्बर 2001

**परिभाषा का प्रश्न :** आतंकवाद क्या है? आतंकवादी कौन है? आतंकवाद की परिभाषा क्या है? जिसे हम आतंकवादी कहते हैं वह दूसरों के लिए स्वतन्त्रता सेनानी हो सकता है? जब आतंकवाद की परिभाषा का प्रश्न उठाया जाता है तो मुझे अमेरिका के एक न्यायाधीश के उस कथन की याद आ जाती है जो उन्होंने पोर्नोग्राफी (अश्लील साहित्य) की परिभाषा के बारे में कहा था। पोर्नोग्राफी की किसी विश्वजनीन परिभाषा पर सहमत होना सम्भव नहीं। लेकिन जब हम उसे देखते हैं तो पहचान जाते हैं कि यह पोर्नोग्राफी है। यही बात आतंकवाद की परिभाषा के बारे में भी सही है।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव कॉफी अन्नान ने इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रों को आतंकवाद की एक सर्वस्वीकृत परिभाषा निश्चित करनी चाहिए। लेकिन यह एक कठिन कार्य है। आतंकवाद की कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा सम्भव नहीं। कॉफी अन्नान की अपनी सरल परिभाषा यह है कि आतंकवादियों का कोई भी ध्येय हो वे मासूम नागरिकों की हत्या नहीं कर सकते और न ही उन्हें अपाहिज बना सकते हैं। यह सीधा-सादा आतंकवाद है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या लोगों की सुरक्षा के लिए तैनात सुरक्षाकर्मियों पर हमले आतंकवाद नहीं? इसलिए जब यह कहा जाता है कि जब तक आतंकवाद की परिभाषा निश्चित नहीं की जाती किसी को आतंकवादी घोषित करना न्यायसंगत नहीं, तो दरअसल कहा यह जा रहा है कि स्थिति का आकलन करके उसे परिभाषित करने के बजाय पहले परिभाषा निश्चित कर ली जाए और फिर स्थिति का आकलन किया जाए। यानी हथगोलों और घातक हथियारों द्वारा बसों और बस्तियों में निर्दोष स्त्रियों, बच्चों, वृद्धों की निर्मम हत्याएँ आतंकवाद को

परिभाषित करने के लिए पर्याप्त नहीं। क्या इन मारे जाने वाले लोगों को आतंकवाद की परिभाषा चाहिए? इनकी कटी-फटी खून में लिथड़ी और आग में झुलसी लाशें आतंकवाद की परिभाषा नहीं?

जब अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद की परिभाषा का प्रश्न उठाया जाता है तो इश्यूज को न केवल कन्फ्यूज किया जाता है बल्कि आतंकवाद के विध्वंसक आघात को डिफ्यूज करने का प्रयास भी किया जाता है। परिभाषा के प्रश्न को उग्रवादी/आतंकवादी तो उठाते ही हैं उदारवादी बुद्धिजीवी भी परोक्ष या प्रच्छन्न रूप से और पूरे आवेश-आवेग से इसमें शामिल हो जाते हैं। मीडिया मध्यस्थित डिस्कोर्स इसमें अहम भूमिका निभाता है।

**कानून : संविधान : न्याय :** दूसरा प्रश्न यह उठाया जाता है कि आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए विशेष कानून बनाना न्यायसंगत नहीं। यह तक भी कहा जाता है कि ऐसे विशेष कानून न केवल असंवैधानिक हैं बल्कि मानवाधिकारों और न्यायप्रक्रिया का भी उल्लंघन करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या सामान्य अपराध और बमों, बारूदी सुरंगों और रिमोट कंट्रोल से लोगों के समूहों की हत्या में कोई फर्क नहीं? क्या मारे जाने वाले लोगों के मानवाधिकार नहीं? आखिर नए कानून क्यों बनाए जाते हैं? संविधान में संशोधन क्यों किया जाता है? जब परिस्थितियाँ बदलती हैं तो कानून और संविधान को उनके अनुरूप बदला जाता है। इसका यह अभिप्राय कतई नहीं कि मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करना गलत है। कौन नहीं जानता कि आए दिन मानवाधिकारों का हनन होता है। पुलिस हिरासत में लोगों की निर्मम हत्याएँ होती हैं। इनके विरुद्ध आवाज बुलन्द करना आवश्यक है। और ऐसे मामलों में कोई समझौता नहीं हो सकता। लेकिन प्रश्न यह है कि इसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए। अपराधियों तथा आतंकियों के मानवाधिकारों का तो नारा लगाया जाए लेकिन उन लोगों के मानवाधिकारों के बारे में मौन धारण किया जाए जो इनके जुल्म का शिकार हुए हैं प्रश्न यह है। प्रश्न यह भी है कि मीडिया इस प्रकार की स्थिति में कितना और कैसा हस्तक्षेप करता है? हम इस तथ्य को नजरअन्दाज नहीं कर सकते कि आतंकवाद के मुकाबले के लिए जो भी कदम उठाए जाएँगे उनका प्रभाव वैयक्तिक अधिकारों तथा अंतरंगता (प्राइवैसी) को किसी हद तक सीमित करेगा ही। यह फैसला सिविल समाज को करना है कि वह यह प्रतिबंध स्वीकार करता है या नहीं, और अन्ततः पूर्णरूपेण इन स्वतन्त्रताओं को आतंकवादियों द्वारा नष्ट होने देता है।

यदि आतंकवाद की रोकथाम के लिए कोई विशेष कानून बनाया जाता है तो उसे क्रूर (ट्रैकॉनियन) करार दिया जाता है। इसे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और मानवाधिकारों का उल्लंघन तथा प्रजातन्त्र की हत्या कहा जाता है। हम प्रायः इस बात की अवहेलना करते हैं कि इस प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का लाभ उठाकर ही वे प्रजातन्त्र को समाप्त कर रहे हैं। कहा यह भी जाता है कि इन विशेष कानूनों का दुरुपयोग

होता है। किस कानून का दुरुपयोग नहीं होता? जरूरत इस बात की है कि कानून की खामियों को दूर किया जाए और न्यायप्रणाली में सुधार लाया जाए। नई टेक्नोलॉजियों और धनराशि की प्रचुर मात्रा आतंकवादियों के हाथों में इतनी बढ़ गई है कि उनका मुकाबला उन अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया जा सकता जब कि आतंकवाद वर्तमान रूप में अमल में नहीं आया था। लंदन में 7/7 के बम धमाकों के पश्चात् आतंकवाद विरोधी अभियान में कानून में संशोधन किया गया जिसके अन्तर्गत न्यायाधीशों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे राष्ट्रीय सुरक्षा को इतनी ही प्राथमिकता दें जितनी कि वे मानवाधिकारों को देते हैं। आतंकवादियों को प्रायः पुराने सामान्य कानूनों के अन्तर्गत दोषी सिद्ध करना, विशेष रूप से जब न्याय-प्रक्रिया की गति बहुत मन्द हो, एक कठिन कार्य है।

**मूल कारण :** प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि जब तक आतंकवाद के मूल कारण का निवारण नहीं किया जाता इसे खत्म नहीं किया जा सकता। यह बात बिलकुल सही है कि जिस समाज में निर्धनता तथा अन्याय और असमानता होगी उसमें लोगों में अलगाव की भावना का परवरिश पाना स्वाभाविक है। जाहिर है कि मूल कारण सही भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी। बहरहाल इन शिकायतों को दूर करना आवश्यक है। लेकिन जब मूल कारण मजहबी मतान्धता हो या अस्मिता की राजनीति तो समस्या का समाधान सामान्य तौर पर करना मुमकिन नहीं होता। इसके लिए अन्य कठोर उपायों की जरूरत पड़ती है। आतंकवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अत्याचार और दमन वैयक्तिक एवं सामाजिक का प्रतिशोध कर रहे हैं। जनसमुदायों की हत्या प्रतिशोध नहीं आतंकवाद है। प्रतिशोध तथा मूल कारण मीडिया का प्रिय मॉडल है।

**वार्ता :** राजनेता, बुद्धिजीवी तथा मीडिया वार्ता पर बल इसलिए देते हैं कि वे आतंकवादियों को 'भटके हुए लोग' तथा 'अपने ही भाई' समझते हैं। उन्हें राहेरास्त पर लाने का एक ही उपाय है वार्ता। वार्ता का कोई विकल्प नहीं। 'गोली नहीं बोली।' आतंकवाद का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि वह एक पूर्वनिर्धारित कौशलपूर्वक नियोजित क्रिया है। वह इस वार्ता और युद्धबन्दी का लाभ उठाकर अपने को संगठित और अपनी शक्ति को सुदृढ़ करता है और अधिक विध्वंसकारी प्रहार करता है। यह राजनेता अपने गिर्द सुरक्षा वृत्त क्यों बनाए रखते हैं? लेकिन यह सुरक्षा आम नागरिकों को उपलब्ध नहीं होती। इस सन्दर्भ में रूस के राष्ट्रपति व्लादीमिर पुतिन के शब्द दुहराना प्रासंगिक होगा जो उन्होंने बेसलान में बच्चों की निर्मम हत्या के बारे में कहे हैं : "क्यों तुम ओसामा बिन लादेन से नहीं मिलते? उसे ब्रसल्स या व्हाइट हाउस में आमन्त्रित नहीं करते? उससे वार्ता नहीं करते? उससे यह नहीं पूछते कि तुम क्या चाहते हो? और जो वह चाहता है उसे दे नहीं देते ताकि तुम शान्ति से रह सको।...हम बच्चों के हत्यारों से क्या वार्ता करें।"

## मीडिया, भाषा और आतंकवाद

जिस दिन अयोध्या में आतंकवादी हमला हुआ तो कतिपय पब्लिक बुद्धिजीवियों ने एक वक्तव्य जारी किया कि इन लोगों को आतंकवादी की संज्ञा देना उचित नहीं। किसी भी भाषा में विशेष रूप से राजनीति की भाषा की निरपेक्ष शब्दावली नहीं होती। शब्दों का अर्थ बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। वास्तव में राजनेता तथा पब्लिक बुद्धिजीवी आर्वेलियन न्यूस्पीक (नयी भाषा) का भरपूर प्रयोग करते हैं जिसके कारण सामान्य जन स्थितियों का सही आकलन करने में असमर्थ रहते हैं। प्रायः प्रत्येक आतंकवादी हमले को वे हताशा और कायरता करार देते हैं। और हमले निरन्तर जारी रहते हैं।

इसी प्रकार भगत सिंह और उनके अन्य साथी स्वतन्त्रता सेनानियों को आतंकवादियों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वे भीड़ भरी बस्तियों और गली-कूचों-बाजारों में बम नहीं फेंकते। वे स्कूली बच्चों को बन्धक नहीं बनाते। उनकी हत्या नहीं करते। जरा भगत सिंह का बयान पढ़िये : "हमने (8 अप्रैल, 1929 को) असेम्बली में दो बम फेंके थे। उनसे किसी की हत्या नहीं हुई (और न ही इरादा था)। और न ही किसी की शारीरिक तौर पर हानि हुई है। कुछ लोगों को मामूली-सी खरोंचें आईं। सब लोग असेम्बली से बाहर भागने लगे। मैं और बटुकेश्वरदत्त दर्शकदीर्घा में बैठे रहे। हमने अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया। बम और पिस्तौल क्रान्ति नहीं लाते। यह हमारी समझ नहीं। हम विचारों में क्रान्ति लाना चाहते हैं।"

## मीडिया : सनसनी और संवेदनशून्यता

*"इस ग्रह पर क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने 11 सितम्बर के पश्चात् उसकी भयानकता को तुरन्त समझ न लिया हो कि किस प्रकार सामान्य लोग भावनात्मक ध्वंस के अति अविश्वास, भय और दहशत-पीड़ा के अतिरेक के बीच भावनात्मक ध्वंस का सामना करने के प्रयास कर रहे हैं। लेकिन हमारे दिखाओ-और-बताओ कल्चर में कुछ भी इतना निजी और संवेदनशील नहीं रह गया कि उसे प्रदर्शित तथा सनसनीपूर्ण न बनाया जा सके। विशेषकर जब मामला रेटिंग्स का हो।"*

कॉमेन्ट : ब्रॉडकास्ट न्यूज, वालस्ट्रीट जर्नल, 8 अक्टूबर, 2001

दिखाओ-और-बताओ कल्चर ने न केवल प्रसार कम्पनियों को संवेदनशून्य बना दिया है बल्कि जनता में निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में भेद के बारे में भी भ्रम उत्पन्न कर दिया है। जब भारत का विदेशमन्त्री खूँखार आतंकवादियों को अपने साथ अन्य देश में सुरक्षित पहुँचाने पर विवश हो जाए तो मीडिया की भूमिका संदिग्ध हो जाती है जिसने 'नीबू निचोड़' मॉडल पर अमल करते हुए लोगों की भावनाओं को निरन्तर

उत्तेजित करने की भूमिका अदा की हो। आई सी 814 विमान के अपहरण किए जाने के बाद उनके प्रियजनों के 'विलाप' को बार-बार दिखाकर मिडिया ने सरकार पर इतना मनोवैज्ञानिक दबाव बनाया कि उसे यह कदम उठाना पड़ा। सरकार ने जो रवैया प्रथम दो दिनों में दिखाया उसे त्यागना पड़ा।

यह भारत की कानून तथा न्याय व्यवस्था पर ही टिप्पणी नहीं बल्कि अन्य देशों की स्थिति भी इस सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक नहीं। कनिष्क विमान को उड़ाने वाले तथा उसमें सवार सभी यात्रियों की हत्या के आरोपियों को रिहा कर दिया जाता है। आतंकवादी इस बात को बखूबी जानते हैं कि जनतन्त्र में कानून और न्याय व्यवस्था तथा राजनीति और मीडिया की नीतियाँ ऐसी हैं कि उन पर अंकुश लगाना सम्भव नहीं। उन्हें यह भली-भाँति मालूम है कि जब भी आतंकवाद की रोकथाम के लिए कड़ी कार्रवाई और नई नीतियाँ निर्मित करने की बात की जाएगी तो लिब्रल (उदार?) बुद्धिजीवी, मानवाधिकारवादी तथा स्वयंसेवी संगठन पुरजोर विरोध करेंगे। और आतंकवाद का प्रभाव-क्षेत्र तथा सपोर्ट सिस्टम फैलता जाएगा। और अन्ततः जनतन्त्र, न्याय व्यवस्था तथा मानवाधिकारों और बहुलतावाद तथा उदारवाद का ही अन्त हो जाएगा। मीडिया जब आतंकवादियों से साक्षात्कार करता है तो नरम प्रश्न पूछता है लेकिन जब आतंक विरोधी लोगों से बात करता है तो विरोधी रवैया ही नहीं अपनाता बल्कि कठोर प्रश्नों को नरम मनोरंजन (इन्फोटेनमेण्ट) के रूप में प्रस्तुत करता है। मीडिया अपने कार्यक्रमों विशेष रूप से (वार्तालापों) टॉक शोज को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि आतंकवाद के गिर्द प्रश्नों तथा संशयों का ऐसा जाल बुना जा सके जिसमें आतंकवादी का मानवीकरण किया जा सके और उसका पाशविक स्वरूप धूमिल किया जा सके।

'झुगगी-झोंपड़ी' की एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़की के आतंकवादी होने की कौन कल्पना कर सकता है। जिस कॉलेज में वह शिक्षा प्राप्त कर रही है उसके प्राचार्य तथा छात्राओं के साक्षात्कारों से मीडिया ने जो छवि निर्मित करने का प्रयास किया है और जिसे उसने प्रसारित किया है, वह भोली-भाली लड़की की छवि है। मीडिया ने उसके प्रति सहानुभूति एवं सहायता की जो लहर बनाने की कोशिश की है वह उसे आतंकवादी गिरोह की कार्यकर्ता नहीं एक 'आईकॉन' बनाती है। उसकी 'निर्मम हत्या' के पश्चात् समस्त समुदाय उसके जनाजे में शामिल होता है। मीडिया ने इस अथाह समूह के सन्ताप को खूब प्रचारित किया। लेकिन उसने यह सवाल नहीं पूछा कि यह बेचारी लड़की एक दूसरे शहर में रात के अन्धकार में आतंकवादियों के साथ कार में क्यों सफर कर रही थी? इसकी परदादारी के लिए यह खबर फैलाई गई कि उसका 'अपहरण' हुआ है। लेकिन यह खबर किसी को नहीं दी जाती। पुलिस को भी नहीं। सिर्फ 'मारे जाने' की घटना के बाद दी जाती है।

लेकिन बेसलान में स्कूली बच्चों को बंधक बनाकर अपनी शर्तें मनवाने के आतंकवादियों के प्रयास को रूस के राष्ट्रपति के आतंकवादियों से वार्ता न करने के निर्णय ने 'नरम राज्य' की नीतियों को नकार दिया और साथ ही मीडिया के दबाव-प्रचार को भी। यह एक लोकप्रिय निर्णय नहीं था जिसकी कि दुनियाभर की सरकारों और जनता को आशा थी। लेकिन यह सही निर्णय सिद्ध हुआ। यह कैसी राजनीति है जो छोटे-छोटे बच्चों को 53 घण्टों तक बन्धक बनाती है। उन्हें भूखा-प्यासा रखती है। उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती है। यदि कोई बच्चा बचकर निकलने की कोशिश करता है तो उसे गोली मार दी जाती है। यह किस 'महान उद्देश्य' की पूर्ति है जो एक माँ को मजबूर करता है कि वह एक बच्चे को तो अपने साथ ले जा सकती है लेकिन उसे दूसरे बच्चे को उनके 'रहमोकरम' पर छोड़ना होगा। इसलिए यह निर्णय कि आतंकवादियों से कोई वार्ता या समझौता नहीं हो सकता है, सही निर्णय है। इसी प्रकार एक बड़ी बुराई का सामना किया जा सकता है। न सिर्फ इसी मामले में बल्कि भविष्य में भी 'घुटने टेक' नीति गलत संकेत देती है।

लेकिन हमारे देश का दुर्भाग्य है कि आतंकवाद के विरुद्ध 'निर्णायक' लड़ाई देश की अन्दरूनी राजनीति तथा सत्ता की राजनीति के भेंट चढ़ जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर मीडिया आतंकवाद का मानवीकरण करने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर सत्ता प्राप्ति के लिए ओसामा बिन लादेन का हमशक्ल किसी नेता के साथ हर मंच पर दिखाई देता है। यहाँ इस बात का जिक्र अप्रासंगिक नहीं कि ओसामा बिन लादेन की लोकप्रियता, प्रतिष्ठा तथा वैधता में अभिवृद्धि ही हुई है। इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि 9/11 के दस सप्ताह के बाद अमेरिकी साप्ताहिक **दि टाइम्स** के आवरण पृष्ठ पर ओसामा का चित्र तीन बार प्रकाशित हुआ है जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश का केवल दो बार। **दि न्यूजवीक** ने तो बिन लादेन का चित्र दो बार छपा और बुश का एक बार भी नहीं।

कुछ लोगों के लिए आतंकवाद एक जीवनशैली बन गया है। आतंकवाद की प्रेरणा में जादुई सम्मोहन है। चाहे यह सम्मोहन भावनात्मक हो या ऐतिहासिक, धार्मिक हो या सांस्कृतिक, राजनीतिक हो या विचारधारात्मक। कोई एक प्रकार का आतंकवाद नहीं। हमारे सामने एक नैतिक संकट है। हम एक लोकतान्त्रिक बहुलतावादी/बहुलसंस्कृतिवादी समाज की संरचना का समर्थन करते हैं। आतंकवादी इसी समाज में अस्मिता तथा उपलब्ध स्वतन्त्रता के नाम पर इसे हिंसा द्वारा नष्ट करना चाहते हैं और एक मतान्धता प्रेरित सर्वसत्तावाद की स्थापना करना चाहते हैं। आतंकवाद पूर्व नियोजित, पूर्व निर्धारित तथा हिंसात्मक गतिविधियों द्वारा अपने 'मन का संसार' रचना चाहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक युद्ध भी है जो लोगों में दहशत पैदा करता है। उनके मनोबल को दुर्बल करता है। राष्ट्र और राज्य की शक्ति में विश्वास को क्षीण करता है।

आतंकवाद का स्वरूप और चेहरा बदल रहा है। वे पढ़े-लिखे आधुनिक (मॉडर्न) लोग भी होते हैं। वे हमारे बीच में भी घूमते हुए देखे जा सकते हैं। उनको आतंकवादी के रूप में पहचानना मुश्किल होता जा रहा है। इनके लिए हिंसा एक सम्प्रेषण रणनीति भी है। इनके लिए सन्देश का महत्त्व है न कि हिंसा के शिकार व्यक्ति का। वे सम्प्रेषण के इस नियम पर अमल करते हैं—संदेशवाहक (आतंकवादी → सन्देश माध्यम (मीडिया) → सन्देश प्राप्तकर्ता (हर कोई, सब लोग)। यानी वे इस कथन पर अमल करते हैं—एक की हत्या करो शेष स्वयं भयभीत हो जाएंगे।

मुझे ऑशिवत्ज के यातना शिविर से जीवित बच निकलने वाले एक व्यक्ति का स्मरण हो रहा है। उसने अपने एक साक्षात्कार में बताया कि मेरे दादा ने कहा था कि यदि तुम इस नरक से जीवित निकल गए तो सब-कुछ जो तुमने देखा है सच-सच कह देना बगैर किसी दर्शन-दृष्टान्त के हत्या है। यही सबक मीडिया के लिए है हत्या है। चाहे वह पुलिस हिरासत में किसी निर्दोष व्यक्ति की हो या किसी आतंकवादी हमले में। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हत्यारा आतंकवादी है या पुलिस का सिपाही है या वह 'गरीबों का मसीहा' कहलाता है।

## अन्त में

लोकतन्त्र तथा मानवाधिकारों के नाम पर सभ्य समाज आतंकवाद की परवरिश करने की उर्वर भूमि बनता जा रहा है। और हर प्रकार के अलगाववादी संगठन उस समाज की नींव को ध्वस्त कर रहे हैं जो उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। आतंकवाद के बारे में जो भी नीति निर्मित की जाए उसका बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप होना आवश्यक है। चाहे वह नई प्रौद्योगिकियों के सम्बन्ध में हो या मौजूदा कानूनों में परिवर्तन लाने के लिए हो। यह एक नई प्रकार की स्थिति है जिसके लिए नई सोच और कार्यप्रणाली अनिवार्य है। फोटोग्राफर रिचर्ड ड्रियु ने एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर ली जो 9/11 को जलते हुए टावर से नीचे गिर रहा था। यह चित्र 'दि फालिंग मैन' के तौर पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। लेकिन कई अखबारों ने इसे दोबारा छापने से इनकार कर दिया। क्योंकि इस चित्र के छापने पर लोगों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि एक भयावह त्रासदी को अश्लील परपीड़कता (पोर्नोग्राफी वायरिज्म) के रूप में इस्तेमाल किया गया है। क्या मीडिया द्वारा प्रसारित आतंकवादी चित्र नए प्रकार की 'पोर्नोग्राफी' है? यह एक गम्भीर प्रश्न है।

जब किसी को 'राष्ट्र' शब्द के प्रयोग से असुविधा महसूस होने लगे तो समझ लीजिए कि आतंकवाद आपके प्रवेश द्वार के भीतर आ चुका है। और सम्भवतया उसका मुकाबला करने की आपकी शक्ति का हास हो चुका है।

## साहित्य-सृजन और राष्ट्रीयता

### सदानन्दप्रसाद गुप्त\*

साहित्य मानव जाति की अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसने मनुष्य की रुचि को परिष्कृत किया है, उसकी संवेदना को तीव्र किया है, उसे कल्पनाशील और अनुभूतिप्रवण बनाया है तथा अपने स्व का विस्तार करके उसे वृहत्तर समाज के प्रति समर्पित होना भी सिखाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता के आधार पर कहें तो कविता (साहित्य) मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मण्डलों से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, वहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।<sup>1</sup> साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन पर साहित्य-सर्जना के साथ ही चर्चा होती रही है। 'शिवेतरक्षतये' के माध्यम से समष्टि के कल्याण की कामना साहित्य का लक्ष्य बताया गया है। भागवतकार ने अपनी रचना के माध्यम से चराचर जगत् में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की है।<sup>2</sup> गोस्वामी तुलसीदास सारे जगत् को 'सीय राममय' देखते हैं, जायसी 'मानुषी प्रेम' को 'बैकुण्ठी प्रेम' में पर्यवसित हो जाने को अंतिम लक्ष्य मानते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार साहित्य का काम है हृदय का योग कराना, जहाँ योग कराना ही अन्तिम लक्ष्य है।<sup>3</sup> आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम साहित्य है।<sup>4</sup> द्विवेदीजी अखण्ड सत्य की साधना को साहित्य का वास्तविक लक्ष्य मानते हैं।<sup>5</sup> अतः साहित्य का उद्देश्य व्यापक मनुष्यता है, जिसका स्वरूप वैश्विक है। यद्यपि साहित्य का यह अंतिम गंतव्य है, पर साहित्य यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। प्रत्येक देश का साहित्य अपने देश की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिस्थिति से सम्बद्ध होता है और उस देश की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति भी। प्रत्येक देश का साहित्यकार अपने देश की अतीत से प्राप्त विरासत पर गर्व करता है, वर्तमान का मूल्यांकन करता है और भविष्य के लिए सपने बुनता है और इस प्रकार कहा जा सकता है कि वह राष्ट्रीय आकांक्षाओं से परिचालित होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर यद्यपि साहित्य के वैश्विक संदर्भ को वरीयता देते हैं, पर देशात्म बोध को भी कम महत्वपूर्ण नहीं मानते। वे लिखते हैं—'प्रत्येक देश का साहित्य मुख्यतः अपने पाठकों के लिए

\*सदानन्दप्रसाद गुप्त, प्रोफेसर: हिन्दी विभाग, दी0 द0 उ0 गो0 वि0 वि0 गोरखपुर।

होता है, किंतु उसके भीतर हम उस स्वाभाविक दाक्षिण्य की प्रत्याशा करते हैं, जिससे वह दूर पास के सभी अतिथियों के लिए भी आसन जुटा पाता है।<sup>6</sup> प्रत्येक देश के साहित्य का अपने पाठकों के लिए होने का तात्पर्य उसे राष्ट्रीय चेतना से युक्त होना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर देशप्रेम के नाम पर किये जाने वाले दिखावे की भर्त्सना करते हैं, पर साहित्य में देशप्रेम की व्यंजना को महत्त्वपूर्ण बताते हैं—“वर्तमान समय में यदि कहा जाये कि देश में देश के लिए भाषण दो, जमा करो, तर्क करो, तब यह बात सभी लोग अत्यंत सहजता के समझ सकेंगे, किंतु यदि कहा जाय ‘देश को जानो और उसके बाद स्वयं अपने हाथों से यथासाध्य देश की सेवा करो’ तब देखता हूँ कि इसका अर्थ समझने में लोगों को विशेष कष्ट होता है।”<sup>7</sup>

इस प्रकार राष्ट्रीयता साहित्य सर्जना का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। पर आज राष्ट्रीयता को एक संकीर्ण अवधारणा के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है विशेषकर उन पश्चिमी शिक्षा प्राप्त आत्म उन्मूलित बुद्धिजीवियों द्वारा जो औपनिवेशिक दासता को पीठ पर लादकर प्रसन्न हैं तथा राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के राजनैतिक आयाम को ही देखने के लिए अभिशप्त हैं। पर क्या राष्ट्रीयता एक उदात्त अवधारणा है जिसका स्वरूप सांस्कृतिक है और अधिष्ठान आध्यात्मिक, जो बहुआयामी है? राष्ट्रीयता की अवधारणा वैदिक साहित्य से ही मिलने लगती है। वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (ऋग्वेद 9/23) अथवा ‘माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्व. 12/1/12) जैसे मंत्र राष्ट्रीयता की ही अभिव्यक्ति हैं। वाल्मीकि रामायण का ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ एवं श्रीमद्भागवत का ‘अहो भुवः सद्यः समुद्र वत्या द्वीपेषु, वर्षेष्वधि पुण्यमेतत्, राष्ट्र के प्रति राग भाव को ही व्यक्त करते हैं।

वस्तुतः राष्ट्रीयता एक उदात्त भाव है। ‘एक निश्चित भू-भाग के प्रति मातृभाव, उसके विविध प्राकृतिक परिवेश से साहचर्य के कारण उत्पन्न अपनत्व की भावना तथा उसमें निवास करने वाले लोगों की एकता, सुरक्षा एवं समृद्धि की आकांक्षा से ही उस भावभूमि का निर्माण होता है जिसे राष्ट्रीयता की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। राष्ट्रीयता की यह भावना किसी भी रूप में संकुचित नहीं होती और इसका निर्माण उन सांस्कृतिक मूल्यों से होता है जो उस भू-भाग में निवास करने वाले लोगों की जीवन पद्धति का हिस्सा होते हैं। इस राष्ट्रीयता का आधार अपने लोगों के प्रति विशुद्ध रागात्मक भाव होता है न कि दूसरों से अनात्म भाव। आचार्य शुक्ल ने इसे ही देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव की संज्ञा दी है और इस अनुभव को देशप्रेम से जोड़ा है। उन्होंने देशप्रेम को प्रेम का ही एक रूप माना है—“देशप्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। रस प्रेम का आलंबन क्या है! सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि। प्रेम किस प्रकार का है? यह प्रेम साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें

अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देशप्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है।”<sup>8</sup> भारतीय साहित्य में ‘सर्व खल्विद ब्रह्म’, ‘वासुदेव सर्वमिति’, ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ की सर्वत्र अभिव्यक्ति है, अतः दूसरों के प्रति अनात्मभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ समाज का विभाजन ‘विलीवर्स’ और ‘नॉन विलीवर्स’ या ‘मोमिन’ या ‘काफिर’ के रूप में अथवा ‘सर्वहारा’ और ‘बुर्जुआ’ के रूप में नहीं किया गया है। अतः यदि रचनाकार राष्ट्रीयता को साहित्य-सृजन के लिए उपजीव्य के रूप में ग्रहण करता है तो यह कार्य स्तुत्य है। इस राष्ट्रीयता का अधिष्ठान सांस्कृतिक है, विशुद्ध राजनैतिक नहीं। जो राष्ट्रीयता को ‘नेशन स्टेट’ की अवधारणा से जोड़ते हैं और उसकी तुलना पश्चिम के राष्ट्रवाद से करते हैं, वे केवल पश्चिम के चश्मे से ही चीजों को देखते हैं। छायावाद के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत का यह कहना युक्तियुक्त है कि हमारा विशाल देश राष्ट्र की भावना या कल्पना से वैदिक युग से परिचित रहा है।<sup>9</sup> पंतजी का यह कहना भी सही है कि पश्चिम का राष्ट्रवाद संकीर्ण है, भारत का व्यापक विश्वमानवतावाद की ओर उन्मुख।<sup>10</sup> निर्मल वर्मा ने उन नकली बुद्धिजीवियों को आड़े हाथों लिया है और उन्हें आत्मविस्मृति का सजीव उदाहरण बताया है जो राष्ट्रीयता को महज एक ‘कन्स्ट्रक्ट’ बताते हैं—“जब आज के कुछ भारतीय इतिहासकार फ्रेंच दार्शनिकों की फैशनेबुल शब्दावली में राष्ट्रीय अवधारणा को महज एक ‘कन्स्ट्रक्ट’ बताते हैं, जहाँ स्वयं भारत को एक राष्ट्रीय इतिहासकारों की ‘काल्पनिक उपज’ या एक ‘आविष्कृत अवधारणा’ (इन्वेंटेड कंस्ट्रक्ट) के रूप में परिकल्पित किया जाता है तो भारतीय राष्ट्रीयता की भाषाई और सांस्कृतिक पाठिका को बिल्कुल भुला दिया जाता है, जो औपनिवेशिक विस्मृति का सजीव उदाहरण है।”<sup>11</sup>

वस्तुतः वैश्विक बोध के लिए राष्ट्रबोध आवश्यक है; बिना राष्ट्रबोध के विश्वबोध नकली है। इस संदर्भ में अज्ञेयजी का यह कथन ध्यातव्य है—“मैं जानता हूँ कि ऐसा भी होता है कि लोग अपने को देश में कटा हुआ पाकर अपने को यह कहकर दिलासा देते हैं कि ‘क्या हुआ वे विश्व नागरिक हो गये हैं।’ पर यह दम-दिलासा ही है, अपने को दम देना ही है। देश से टूटकर विश्व नागरिकता नहीं मिलती; देश से एकात्म होकर उसकी सीमा का अतिक्रमण करने से मिलती है। जैसे गूँगा होकर कोई विश्वभाषा भाषी नहीं बनता, एक भाषा में अपने को पूरी तरह सम्प्रेष्य बनाकर ही बन सकता है।”<sup>12</sup> आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबंध ‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’ में जिस ‘देहाबद्ध मनुष्यत्व’ की बात की है, जिस देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव को जातीय चेतना से जोड़ा है उसका सम्बन्ध राष्ट्रीयता से ही है—“जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता का अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की

स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बँधी-बँधायी परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नयी उभरी हुई इतिहास शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखा लिया।<sup>13</sup>

राष्ट्रीयता का सीधा सम्बन्ध राष्ट्र की रक्षा से है। साहित्यकार राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में अपनी रचनात्मक ऊर्जा के माध्यम से अपनी सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करता है। ऐतिहासिक संकट के दौर में कभी-कभी राष्ट्रीय मूल्यों को घनत्व देना पड़ता है, जहाँ भाव रक्षात्मक होता है। यह भाव भूषण में पहली बार दिखायी पड़ता है। भूषण की दृष्टि में शिवाजी किसी संकीर्ण जातीयता के लिए नहीं लड़ रहे थे। इसलिए भूषण ने शिवाजी के शौर्य की प्रशंसा में कविताएँ लिखीं और इस प्रकार राष्ट्रीयता को अपने काव्य में मुखरित किया। जो लोग यह कहते हैं कि राणा प्रताप और अकबर या शिवाजी और औरंगजेब के बीच का संघर्ष राजाओं का आपसी संघर्ष था वे इतिहास के तथ्यों के साथ खिलवाड़ करते हैं। बात इतनी आसान नहीं है। वहाँ प्रश्न राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा का था। इसीलिए छायावादी कवि निराला ने भी शिवाजी का चित्रण राष्ट्रीय अस्मिता के रक्षक के रूप में किया है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' कविता में देशवासियों की निष्क्रियता, पराधीनता से समझौता, आत्म सम्मान के अभाव के प्रति ग्लानि और रोष के भाव हैं। भारतेन्दु युग से छायावाद और उसके बाद तक के हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता के इस रूप के अनेक संदर्भ मिलते हैं। पंतजी का यह कथन समीचीन है कि 'राष्ट्र की रक्षा एवं आत्मरक्षा करना हिंसा नहीं, शौर्य, वीर्य तथा पुरुषार्थ है उसी पुरुषार्थ का, लोकऐक्य का, जीवन संगठन का, अंतः सतर्कता तथा जागृतिक उद्बोधन हमारे नवीन राष्ट्रीय भावना के द्योतक आज के काव्य-साहित्य में देखने को मिलता है जिसके अनेकानेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।'<sup>14</sup> चीनी आक्रमण के समय लेखक के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए पंतजी ने लिखा था 'आज के युग-संकट एवं विश्व-संकट के काल में रचनाधर्मी साहित्यकार एवं कलाकार को मनुष्य के भीतर अन्तःशक्ति तथा लोकजीवन के भीतर अपराजेय साहस, कर्तव्य तत्परता तथा धर्म कर्म प्रेरणा का आवाहन करना है।'<sup>15</sup>

वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का विकास देश के सांस्कृतिक जागरण के साथ हुआ जिसकी परिणति लोकमंगल तथा वैश्विक चेतना में हुई। पंतजी का यह विश्लेषण इस संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है "भारतीय राष्ट्रवाद की भावना देश के सांस्कृतिक जागरण की पृष्ठभूमि में एक विशेष आदर्शवादी रूप धारण कर विकसित एवं प्रस्फुटित हुई है। वास्तव में श्रीरामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि अनेक महान् जीवन द्रष्टाओं के कारण जो एक सांस्कृतिक नवोत्थान की वृहद् प्रेरणा देश के मानस को मिली, जिससे कि अपने अतीत के गौरव के प्रति लोकमन उद्बुद्ध हो सका उसके प्रकाश में हमारी राष्ट्रीय

भावना ने एक अत्यंत व्यापक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी रूप ग्रहण कर लिया। ... भारतीय राष्ट्र भावना वास्तव में भारतीय आदर्शप्रिय मानस में विश्व चेतना तथा लोक मंगल की भावना बनकर आधुनिक साहित्य में अभिव्यक्त हुई है।<sup>16</sup> अतः यह स्वयंसिद्ध है कि राष्ट्रीयता एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है और साहित्य सृजन का आधार भी। रूप का स्वरूप अत्यंत व्यापक एवं उदात्त है। इसके अनेक पक्ष हैं। इसमें एक महत्वपूर्ण पक्ष राष्ट्र के प्रति पूज्य भाव है। यह पूज्य भाव ही रचनाकार को राष्ट्र-आराधन की प्रेरणा देता है और राष्ट्र के निवासियों के मन में राष्ट्र के प्रति न्योछावर होने का भाव जागृत करता है। स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण भारतवासियों का जो आह्वान किया उसमें उसी भाव की अभिव्यक्ति है। उन्होंने देशत्व मे देवत्व की प्रतिष्ठा की है "आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। ....जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे अन्यथा नहीं।"<sup>17</sup> गो0 तुलसीदास ने 'कवितावली' में भारत भूमि का पवित्र भूमि के रूप में स्मरण किया है

*भलि भारत भूमि भलें कुल जन्मु समाजु सरीष भलो लहिकैं।  
करषा तजि कै परुषा वरषा हिम, मारुत धाम सदा सहिकैं।।  
जो भजै भगवानु सयान सोई, 'तुलसी' सठ चातकु ज्यों गहिकैं।  
नुतु और सबै विष बीज बाए, हर-हाटक काम दुहा नहिकैं।।'<sup>18</sup>*

छायावाद के प्रसिद्ध कवि महाप्राण निराला का भारतभूमि के प्रति समर्पण का भाव इसी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति है

*भारत ही जीवन धन  
ज्योतिर्मय परम-रमण  
सर-सरिता-वन-उपवन'<sup>19</sup>*

निराला की निम्नांकित पंक्तियाँ भारत के भौगोलिक स्वरूप को प्रत्यक्ष करती हैं और देवी रूप का स्मरण भी

*बंदू तव पद कमल। चिर सेवित चरण युगल  
मुकुट शुभ्र हिमागार हृदय बीच विमल हार  
पंच सिंधु ब्रह्मपुत्र रवि तनया गंगा  
विन्ध्य विपिन राजे घन घेरि युगल जंघा'<sup>20</sup>*

रचनाकार राष्ट्र के स्वातंत्र्य की रक्षा में अपनी आहुति देने की आकांक्षा व्यक्त करता है

नर जीवन के स्वार्थ सकल  
बलि हों तेरे चरणों पर माँ,  
मेरे श्रम संचित सब फल  
क्लेद्युक्त अपना तन दूँगा  
मुक्त करूँगा तुझे अटल<sup>21</sup>

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के प्रसिद्ध गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा' में देश के प्रति आत्मभाव को ही अभिव्यक्ति मिली है।

राष्ट्रीयता का एक पक्ष है अपने अतीत की स्मृति। अतीत की स्मृति आत्मस्मृति है। आत्मस्मरण जीवन है और आत्मविस्मृति मृत्यु। निर्मल वर्मा ठीक ही लिखते हैं कि कोई भी व्यक्ति संकट की घड़ी में अपने अतीत, अपने जड़ों को टटोलता है। संकट की घड़ी आत्ममंथन की घड़ी होती है और सही आत्ममंथन हमेशा अतीत में लिये गये फैसलों के आसपास होता है।... जिस तरह एक व्यक्ति अपनी स्मृति में दुनिया को परखता है, उसी तरह एक जाति अपनी परम्परा की आँखों से यथार्थ को छानती है।<sup>22</sup> निर्मलजी द्वारा अतीत को जीने का तत्व मानना, उसे जीवंत प्रतीक बताना संगत ही है—एक जाति (राष्ट्र) का अतीत उसकी जीवन धारा के साथ जुड़ा रहता है, वह दिखाने का अलंकार नहीं, जीने का तत्त्व है, ढोनेवाला बोझ नहीं, प्रवाह की लय में बिंधा एक जीवंत प्रतीक है, जो इतिहास के फार्मूलों द्वारा नहीं, अपनी प्राणधारा के मुताबिक अपना भविष्य बनाता है।<sup>23</sup> जो लोग अतीत की स्मृति को अतीत के प्रति सम्मोहन का दर्जा देते हैं, निर्मल वर्मा उसका प्रत्याख्यान करते हैं—अतीत का बोध अतीत के प्रति सम्मोहन का नॉस्टाल्जिया से बहुत भिन्न है। विगत के प्रति सम्मोहन उसी समय होता है जब हम परम्परा से विगलित हो जाते हैं...परम्परा का रिश्ता स्मृति से है नॉस्टाल्जिया से नहीं।<sup>24</sup> निर्मल वर्मा की दृढ़ मान्यता है कि एक देश की जातीय अस्मिता को नष्ट करने का सबसे सरल उपाय है उसकी स्मृति को उन्मूलित करना।<sup>25</sup> दरअसल मनुष्य का स्वभाव ही है अतीत की यात्रा करना। शुक्लजी ने मनुष्य की इस प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है, जो उस अल्प क्षण में ही आत्म प्रसार को बद्ध रखकर संतुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। यह अतीत के दीर्घ पटल को भेदकर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि की ही नहीं, रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे 'भावों' के लिए भूतकाल का रोग अत्यंत पवित्र रोग है। वहाँ वे शरीर यात्रा के स्थूल स्वार्थ से संश्लिष्ट होकर क्लुषित नहीं होते, अपने विशुद्ध रूप में दिखायी पड़ते हैं।<sup>26</sup> इसी कारण आचार्य शुक्ल ने स्मृति का काव्य में चित्रण स्वाभाविक माना है—पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिन्दू दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का सम्बन्ध लगा हुआ है। ऐसे एक-एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं।

वे रसात्मक वाक्य नहीं तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं।<sup>27</sup> इस स्मृति को पुनरुज्जीवित कर रचनाकार अपने देशवासियों में स्वाभिमान का भाव जाग्रत करता है, संकट की घड़ी में आत्म विश्वास का भाव उत्पन्न करता है। मध्यकाल में तुर्क और मुगल शक्ति के सत्तासीन होने और पूरे देश में उसके बढ़ते प्रभाव से उत्पन्न संकट का अनुभव गोस्वामी तुलसीदास ने किया था। उन्होंने रामकथा का पुनराख्यान कर देश की जनता के मन में प्रस्तुत संकट का सामना करने का साहस उत्पन्न किया। उन्होंने तुर्क एवं मुगल शासकों को दण्ड प्रधान व्यवस्था और देशी रजवाड़ों की संकीर्ण मानसिकता के प्रतिपक्ष में रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया। अज्ञेय तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करते हैं—तुलसी की रामभक्ति सिर्फ भक्ति नहीं थी। उसमें लोकधर्म का आदर्श भी था। वह सुधार चाहते थे तो पुराने को मिटाकर नहीं, उसका उद्धार करके, उस पर जमी हुई मैल की पपड़ी उतारकर भीतर के शुद्ध पुराना कंचन निकाल कर।<sup>28</sup> आधुनिक काल के साहित्य में भी इसकी झलक देखने को मिलती है। जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटक में स्वर्णिम अतीत को वर्तमान के लिए प्रेरणाप्रद बनाया है।

निराला अपनी 'दिल्ली' कविता में कुरुक्षेत्र की उस भूमि का स्मरण कहते हैं जहाँ कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था

श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने  
गीता-गीत-सिंहनाद  
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की  
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का<sup>29</sup>

अपनी संस्कृति के प्रति गौरवबोध वस्तुतः राष्ट्रीय अस्मिता का हिस्सा है और राष्ट्रीय अस्मिता राष्ट्रबोध का अभिन्न-हिस्सा है। अज्ञेय का यह कथन युक्तियुक्त है कि संस्कृतियों का सम्बन्ध अपनी देशभूमि से होता है।<sup>30</sup> आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने निबंधों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप को प्रत्यक्ष कर नयी पीढ़ी को उसके महत्त्व से परिचित कराया है—स्वराज होने के बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचार गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों रात अनजान जंगल में पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्वल है।<sup>31</sup>

किसी कारण जब समाज में अस्मिता का अभाव दिखायी देता है तो रचनाकार बेचैन होता है और उसकी बेचैनी रचना के स्तर पर व्यक्त होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति

के बाद अपनी अस्मिता के प्रति सचेतनता में कमी आई जिससे राष्ट्रीय चेतना का क्षरण हुआ तो अनेक रचनाकारों ने इसके प्रति चिंता जतायी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पश्चिम के अनुकरण के प्रति क्षोभ प्रकट किया “आज हम अनुकर्ता हैंदूसरों के अनुकरण पर सोचते-बोलते-लिखते हैं। हममें अपनी समृद्ध विरासत के प्रति न तो किसी प्रकार का प्रेम ही बच रहने के लक्षण दिखायी दे रहे हैं और न ममता का भाव ही शेष रह गया जान पड़ता है। जिस दिन हम अपने को अतीत के विरासत के साथ सही अर्थों में जोड़ देंगे उस दिन हमारा भविष्य भी सुनहरा और उज्ज्वल होकर प्रकट होगा।”<sup>32</sup>

पंतजी विदेशी शासन के कारण आयी हीन भावना को राष्ट्रीय चेतना के अभाव का परिणाम मानते हैं विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण और पराजित हो गयी है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते और अपने स्वार्थों से बाहर एक सबल संतुलित राष्ट्रीय संगठन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।<sup>33</sup>

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में व्यवस्था का जो ढाँचा तैयार हुआ, वह यूरोप केन्द्रित था, भारत केन्द्रित नहीं। इस व्यवस्था ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को खण्डित किया। स्वतंत्रचेता साहित्यकारों ने इस स्थिति पर अपनी पीड़ा व्यक्त की ‘मुझे सभी कुछ मिला, पर सब बेपैदी का। शिक्षा मिली, पर उसकी नींव भाषा नहीं मिली; आजादी मिली, लेकिन उसकी नींव आत्मगौरव नहीं मिला, राष्ट्रीयता मिली, लेकिन उसकी नींव अपनी ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली।...मुझे अस्तित्व मिला, पर अस्तित्व नहीं; अवस्था मिली, पर आस्था नहीं...मैंने इतिहास पढ़ानहीं, मुझे कुछ पढ़ाया गया, जिसे इतिहास कहा गया।...क्यों नहीं मुझे वह भाषा दी जाती, जिससे कि मैं अपनी आत्मा को खोज सकूँ। क्यों नहीं मुझे वह शिक्षा दी जाती जिससे कि मैं व्यक्तित्व पा सकूँ? क्यों नहीं मुझे वह इतिहास मिलता जिससे मैं अपनी इयत्ता पहचान सकूँ, निरे पूर्वापर को परम्परा बनाकर अर्थ दे सकूँ।”<sup>34</sup> आधुनिकतावाद और मार्क्सवाद के नाम पर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में पश्चिम का अबाध अनुकरण किया गया, वैश्विक होने के नाम पर साहित्यकार अपनी जमीन से कट गये, भारतीय परम्परा पर प्रहार किये गये, क्रांति का पाखण्ड किया गया। ऐसे तथाकथित साहित्य पर अज्ञेय की टिप्पणी अपनी अस्मिता की रक्षा की चिंता है, जिसका सीधा सम्बन्ध राष्ट्रीयता से है “हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दीखती है, न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिंता दीखती है। उनकी (पश्चिम की) चिंता, उनकी अनास्था, उनका त्रास हमको दीखता है और उस आधार पर हम अपने को आधुनिक मानते हैं। हर किसी को यह चिंता है कि मैं आधुनिक माना जाऊँ इस अर्थ में कि मैं पश्चिम का मुहावरा बोल सकता हूँ, पश्चिम की चिंताओं की चर्चा अपनी चिंता के रूप में कर सकता हूँ। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी कोई चिंता हमको

नहीं है।”<sup>35</sup>

राष्ट्रीयता का एक रूप अपने देश के प्राकृतिक परिवेश के साथ गहरी संसक्ति की व्यंजना में भी देखने को मिलता है। प्रकृति के प्रति यह अनुरक्ति ‘काव्य के चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करने’ (आ० शुक्ल) की ओर ले जाती है। प्रकृति के बहुत सारे बिम्ब न केवल हमारे भीतर सौन्दर्य भावना जगाकर हमें अधिक मानवीय बनाते हैं बल्कि हमारी दीर्घकालीन सांस्कृतिक परम्परा से भी हमें जोड़ते हैं। भारतीय चिंतन में मनुष्य के साथ प्रकृति के अंगांगि भाव की व्यंजना की गयी है। इस कारण विराट प्रकृति के साथ पूर्ण रागात्मक सम्बन्ध का चित्रण भारतीय साहित्य में मिलता है। आदि काल से लेकर आज तक के साहित्य में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। कालिदास के साहित्य में हिमालय का जो उदात्त चित्रण है उसमें प्रकृति में देवत्व का आरोपण भी है और भारत के राष्ट्रीय मानस का साक्षात्कार भी

*अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।*

*पूर्वापरौ तोयनिधिवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।”<sup>36</sup>*

जायसी, सूर, तुलसी की रचनाओं में प्रकृति के आत्मीय चित्र मिलते हैं। आधुनिक काव्य में छायावादी-युग की रचनाएँ प्रकृति के साथ मानव जीवन के संश्लिष्ट सम्बन्ध का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। ‘प्रथम रश्मि’, मौन निमंत्रण, नौका विहार, ‘एक तारा’ (सुमित्रानन्दन पंत), बादल राग, जुही की कली, ‘यमुना के प्रति’, ‘संध्या सुन्दरी’, ‘सखि वसंत आया’ ‘अलि घिर आये घन पावस के’ ‘दूत अलि ऋतुपति के आये’ (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला) आदि रचनाएँ प्रकृति के साथ गहरे तादात्म्य का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। निर्मल वर्मा का यह कहना उचित ही है कि प्रकृति के उपादान हमारी पौराणिक स्मृतियों के वाहक हैं “भारतीय भाषाओं में यदि गंगा, सरस्वती, हिमालय, सागर और अंतरिक्ष के बिम्ब इतनी गहराई से हमारी काव्यात्मक भावनाओं को झिंझोड़ते हैं तो उसका कारण यह है कि ये केवल प्रकृति के उपादान न होकर हमारी पौराणिक स्मृतियों के वाहक भी हैं, जो किसी समय भारतीयों को उनके देवी-देवताओं से जोड़ते थे, उनके अलौकिक परिवेश को एक तरह की अलौकिक पवित्रता प्रदान करते थे...भारत को ‘देवभूमि’ और संस्कृत को देवभाषा कहने के पीछे भूमि और भाषा के बीच शाश्वत और पुनीत सम्बन्ध ही ध्वनित होता है।”<sup>37</sup> अपने आसपास के प्राकृतिक परिवेश के साथ जीवंत रिश्ते का खंडित होना जातीय स्मृति से च्युत होना ही है। प्राकृतिक परिवेश के साथ संपृक्त देशप्रेम का ही एक रूप है। इसी प्राकृतिक परिवेश के वर्णन में लोक जीवन की धड़कन सुनायी देती है। इस लोक जीवन में वे सब तीज ‘त्यौहार व्रत उत्सव भी सम्मिलित हैं’, जिनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन से है।

राष्ट्रीयता का एक अन्य पक्ष वहाँ दिखायी देता है, जहाँ रचनाकार अपनी

रचनाओं में वर्तमान के प्रति चिंता व्यक्त करता है, देश की राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार करता है, इन स्थितियों में सुधार की कामना करता है, जनता का आह्वान करता है और स्वयं सक्रियतापूर्वक भाग भी लेता है। स्वतंत्रता संघर्ष के आरम्भिक काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तथा उसके बाद की अनेक रचनाएँ इसका उदाहरण हैं। इनमें राष्ट्रीयता का प्रगतिशील रूप देखा जा सकता है।

भाषा का राष्ट्रीयता से गहरा सम्बन्ध है। आचार्य शुक्ल ने भाषा को ही जातीय विचारों का रक्षक माना है। भाषा केवल विचारों के प्रेषण का माध्यम ही नहीं है अपितु वह सभ्यता और संस्कृति का वाहक भी है। निर्मल वर्मा का यह मानना बिल्कुल सही है कि भाषा एक जाति की अस्मिता, उसकी चारित्रिक विशिष्टता को निर्धारित करती है और उस जाति के सामूहिक अनुभव, स्मृतियाँ और संस्कार उसकी भाषा के अनूठे स्वरूप को निर्मित करते हैं।<sup>38</sup> इसलिए अपनी भाषा की अस्मिता की चिंता भी राष्ट्रीयता का ही एक पक्ष है। अपने निबंध 'भाषा और समाज' में अज्ञेय ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'भाषा अपने आपको पहचानने का साधन है। भाषा के बिना अस्मिता की पहचान नहीं होती और भाषा उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। आज अगर किसी समाज को उसकी भाषा से काट दिया जाय तो इतना ही नहीं है कि उससे एक भाषा छीनकर हम उसको कोई दूसरी भाषा देते हैं; हम उसकी अस्मिता को भी खण्डित कर देते हैं।...भाषा संस्कृति की बुनियाद होती है, एक समग्र अस्मिता का, एक आत्मभाव का उपकरण या साधन भी होती है।'<sup>39</sup> इसी कारण पंतजी ने विदेशी भाषा का गुणगान करनेवाले लोगों की भर्त्सना करते हुए लिखा है—'विदेशी भाषा की दासता ने आकाश लता की तरह देश के मन पर छाकर उसकी चेतना को निःशक्त, मन को पंगु और प्राणों के सौन्दर्य को शुष्क बना दिया है।'<sup>40</sup> इसीलिए पंतजी साहित्यकारों का यह कर्तव्य मानते हैं कि वह भाषा के ज्वलंत प्रश्न को राजनीतिक कर्दम से ऊपर उठाकर उसे सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रदान करे और शांति, धैर्य एवं आत्म त्याग के साथ भारतीय भाषाओं के प्रेम की प्रतिष्ठा लोक के मन में करे।<sup>41</sup>

इस प्रकार राष्ट्रीयता एक उदात्त भाव और व्यापक अवधारणा है। यह साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है, यह हमारे गंभीर भावों का आलंबन है। इसलिए दुनिया भर के साहित्यकारों ने राष्ट्रीय चेतना को साहित्य का विषय बनाया है। इसका कारण यह है कि कोई भी साहित्यकार अंततोगत्वा किसी भूगोल, इतिहास, धर्म और समाज तथा संस्कृति से जुड़ा होता है, वह अनिवार्य रूप से अपनी परिस्थितियों का परिणाम होता है, वह अपने आसपास व्याप रहे संघर्ष का फल है। इन सब परिस्थितियों से उसके रचनाकार मानस का निर्माण होता है। भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद और उसके बाद के साहित्य में व्याप्त राष्ट्रीयता के तत्व को रेखांकित करते हुए अज्ञेयजी ने

लिखा है—'भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त और उनके शिष्यों तक की परम्परा एक साथ ही राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक चेतना के विकास की परम्परा थी।'<sup>42</sup> अज्ञेय स्पष्ट करते हैं कि "हमारी पीढ़ी के लेखकों के मानस पट के ताने-बाने के मुख्य सूत्र कौन-कौन से रहे? असंदिग्ध रूप से इनमें प्रथम स्थान देशभक्ति अथवा राष्ट्रवाद का था। हमारे काल का साहित्य सबसे पहले राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रीय चेतना का साहित्य था।"<sup>43</sup>

इसलिए यद्यपि समष्टि मानव के कल्याण की कामना साहित्य का अंतिम लक्ष्य है, पर इसका रास्ता राष्ट्रीयता से होकर ही जाता है, उसे छोड़कर नहीं। जो साहित्यकार अपने भूगोल, इतिहास, संस्कृति, दर्शन, भाषा समाज से नहीं जुड़ सकता, जो अपने आसपास के प्रतीकों, बिम्बों, मिथकों का अपनी रचना में इस्तेमाल नहीं करता, अपने आसपास के परिवेश से प्रेम नहीं करता, वह अपने राष्ट्र से नहीं जुड़ सकता और जो अपने देश से नहीं जुड़ सकता उसका विश्वबोध पाखण्ड है और इसके व्यक्तिवादी हितों की पूर्ति का माध्यम भी। उसे कदापि रचनाकार नहीं कहा जा सकता और ऐसे रचनाकार की रचना न तो समकालीन होती है और न ही शाश्वत।

## संदर्भ

1. चिंतामणि भाग1 (कविता क्या है?), पृ0 89
2. श्रीमद्भागवत 11.1. 141
3. रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-3 (साहित्य का तात्पर्य), पृ0 134
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-10 (मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य) पृ0 20
5. वही (साहित्य साधना) पृ0 45
6. रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-3 (साहित्य में आधुनिकता) पृ0 158
7. वही (छात्रों से बातचीत) पृ0 207
8. चिंतामणि भाग2 (काव्य में प्राकृतिक दृश्य), पृ0 33
9. पंत ग्रंथावली भाग-6, पृ0 377
10. वही पृ0 379
11. दूसरे शब्दों में भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ0 41
12. केन्द्र और परिधि (शिक्षा जोड़नेवाली या तोड़नेवाली) पृ0 68
13. चिंतामणि भाग2 (काव्य में प्राकृतिक दृश्य), पृ0 33
14. पंत ग्रंथावली भाग-6, पृ0 380
15. वही पृ0 383
16. वही पृ0 379
17. विवेकानन्द संचयन (संस्करण 1993) पृ0 132
18. कवितावली, उत्तरकाण्ड। 33

19. निराला रचनावली भाग-2, पृ0 92
20. वही, भाग-1, पृ0 39
21. वही, भाग-1, पृ0 223
22. शब्द और स्मृति (अतीत एक आत्ममंथन), पृ0 63
23. वही, पृ0 68
24. कला का जोखिम (परम्परा और इतिहास बोध) पृ0 27
25. भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र (लेखक की स्वतंत्रता और स्वधर्म) पृ0 113
26. चिंतामणि भाग2, पृ0 31
27. वही, पृ0 25
28. सर्जना और संदर्भ (हिन्दी साहित्य : चौपाई) पृ0 107
29. वही, पृ0 99
30. केन्द्र और परिधि, पृ0 69
31. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-9 (नाखून क्यों बढ़ते हैं), पृ0 108
32. वही, भाग-10, (सन् 2000 में हिन्दी साहित्य) पृ0 319
33. पंत ग्रंथावली भाग-6, पृ0 432
34. केन्द्र और परिधि (असंतोष की पहली सीढ़ी), पृ0 33
35. वही (सभ्यता का संकट), पृ0 134
36. कुमार संभव, पृ0 1.1
37. दूसरे शब्दों में (भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता), पृ0 40
38. दूसरे शब्दों में (भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता), पृ0 34
39. केन्द्र और परिधि, पृ0 136-38
40. पंत ग्रंथावली भाग-6, पृ0 381-82
41. वही, पृ0 382
42. सर्जना और संदर्भ, पृ0 72
43. वही, पृ0 69

## दक्खिनी हिन्दी

### कृपाशंकर सिंह\*

मुसलमान आक्रमणकारियों के भारत में आने से यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में जो हलचल पैदा हुई, उसका असर धीरे-धीरे भाषा पर भी पड़ा। मुस्लिम आक्रमणकारी तुर्की, पश्तो, अरबी और फारसी बोलने वाले लोग थे। जाहिर है इन भाषाओं के शब्द हमारी अपनी भाषाओं में धीरे-धीरे घुसने लगे। आखिर वे शासकों की भाषा के शब्द थे और शासक भी ऐसे जिन्होंने दुनिया में नृशंसता की मिसालें कायम कीं।

कहने का मतलब यह है कि हिन्दी की आरम्भिक विकास अवस्था में ही उसमें अरबी-फारसी आदि के शब्द मिलने शुरू हो गए थे। खासकर उन जनपदीय भाषाओं में जहाँ मुस्लिम शासन धीरे-धीरे जड़ जमाने लगा था। उन स्थानों में दिल्ली एक खास जगह थी। दिल्ली में खड़ी बोली बोली जाती थी, पर उससे लगे हुए एक ओर बाँगरू और दूसरी ओर ब्रज के क्षेत्र थे, फिर पास में ही मेवाती राजस्थानी का क्षेत्र था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दिल्ली में बोली जाने वाली बोली (या कह लीजिए बोल-भाषा) बाँगरू, ब्रज, राजस्थानी (मेवाती) से बिलकुल अछूती नहीं रह सकती थी। इनसे उनका आदान-प्रदान रहता ही था। फिर मुस्लिम आक्रमणकारियों का अड्डा भी दिल्ली ही बनी तो अरबी-फारसी के शब्दों का उसमें मिलना भी शुरू हुआ। शासकों की भाषा होने के कारण दिल्ली की भाषा में इनके अपनाए जाने का सिलसिला तेज था। हाँ, यह जरूर रहा कि बोलचाल में इनके उन्हीं शब्दों को अपनाया गया जो बोलने में आसान थे और हमारी भाषा के साँचे में ठीक से बैठ सकते थे। समय के प्रवाह में हजारों ऐसे शब्द आ गए हैं, जो किसी भी तरह अन्य भाषा के, अजनबी से शब्द नहीं लगते, वे हिन्दी के ही हो गए। इसीलिए हजारों ऐसे शब्दों के आ जाने के बावजूद भाषिक अलगाव दिखाई नहीं देता।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आरम्भिक दौर और उसके काफी बाद तक बहुत से मुसलमान साहित्यकार हुए जिन्होंने खड़ी बोली, ब्रज, अवधी में उत्कृष्ट

\*डॉ. कृपाशंकर सिंह, सी-4/86/2, सफदरजंग विकास क्षेत्र, हौजखास, नई दिल्ली-110016, दूरभाष9868637567; 011-26854818

कोटि की रचनाएँ दीं। उनमें बहुत से फारसी के अच्छे जानकार थे और खड़ी बोली, ब्रज, अवधी काव्य को अरबी-फारसी लिपि में लिख रहे थे।

अलाउद्दीन खिलजी ने 1295 ई. में देवगिरि पर चढ़ाई की और मलिक काफूर 1306-7 ई. में देवगिरि (दौलताबाद) पहुँचा। फिर मुहम्मद तुगलक का आक्रमण हुआ। तुगलक ने 1327 ई. में दिल्ली की बजाय दौलताबाद को राजधानी बनाने का निर्णय लिया। 1329 में सभी दिल्लीवासियों को दौलताबाद जाने का आदेश हुआ। बाद में मुहम्मद तुगलक जब दौलताबाद से दिल्ली के लिए लौटा तो कुछ अमीर जो बगावत पर आमादा थे, उन्होंने एक सेनानायक, जिसका नाम हसन गंगू था, को देवगिरि का सुलतान बना दिया। उसने अपना नाम अबुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह रखा और 1347 से 1358 ई. तक राज्य किया। यही शासक बहमनी राजवंश का संस्थापक था। इसने अपने राज्य को गुलवर्गा, दौलताबाद, बीदर और बरार इन चार सूबों में विभाजित किया।

बहमनी राज्य के मुस्लिम सामन्तों के दो वर्ग थे। एक वर्ग में फारस आदि जगहों से आए सामन्त थे, जिन्हें अफकिया (अफकी) कहते थे। ये शिया मुसलमान थे। दूसरे वर्ग के मुसलमान वे थे जिनके पूर्वज दकन के ही निवासी रहे थे। इनमें अधिकतर सुन्नी मुसलमान थे। इन्हें दकनिया कहते थे।

1490 में बीजापुर स्वतन्त्र हो गया और वहाँ आदिलशाही राज्य कायम हुआ। 1518 ई. में गोलकुण्डा भी स्वतन्त्र हुआ। वहाँ कुतुबशाही राज्य की नींव पड़ी। 1510 में पुर्तगालियों ने बीजापुर राज्य के गोवा पर कब्जा कर लिया।

गोलकुण्डा के सुलतानशाही में राज्य के व्यापारी साहूकार ज्यादातर हिन्दू थे और उच्च पदों पर अफकिया मुसलमान थे। गोलकुण्डा के सुलतान हिन्दुओं के प्रति अपेक्षाकृत उदार थे।

अलाउद्दीन खिलजी का दिल्ली से दक्खिन की ओर जाने की जो शुरुआत हुई, उसके बाद कई सौ वर्षों तक चढ़ाईयों का क्रम रुका नहीं। मुगलों की सदैव ही इस पर निगाह थी। अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब समेत सबने बारी-बारी से दक्खिन पर धावा बोला। औरंगजेब की उम्र के बहुत से वर्ष दक्खिन में ही बीते थे। बीदर, गुलवर्गा, बीजापुर, गोलकुण्डा सभी पर अपने अन्तिम दिनों तक उसने कब्जा कर लिया था। 1707 ई. में उसकी मृत्यु भी दक्खिन में ही हुई थी। उसने 1657 में बीदर, गुलवर्गा, कल्याणी पर विजय प्राप्त की और 1687 ई. में गोलकुण्डा पर अधिकार किया। इस अधिकार के साथ कुतुबशाही राज्य की समाप्ति हुई और उसके साथ ही दक्खिनी के साहित्य का लगभग अवसान हुआ।

यहाँ मैं इस संक्षिप्त विवरण से इस तथ्य की ओर इशारा करना चाहता हूँ कि ये शासक जो दिल्ली से दक्खिन पर आक्रमण कर रहे थे, उनके साथ जाहिर है कि बड़ी-बड़ी सेनाएँ रही होंगी, जो दिल्ली से आ रही थीं। दिल्ली की उन सेनाओं में उत्तर

भारत के अनेक इलाकों, छोटी जगहों, देहातों के हिन्दू सैनिक भी थे, और वे सैनिक भी थे जो हिन्दू से नए-नए मुसलमान बने थे। फिर अच्छी-खासी संख्या सेना के साथ चलने वाले कामगारों की भी रही होगी।

फिर तुगलक ने दौलताबाद जो राजधानी बनाई तो दिल्ली की पूरी-की-पूरी आबादी को वहाँ जाने का हुक्म हुआ। बाद में राजधानी को वह वापस दिल्ली ले आया, पर आबादी का कुछ हिस्सा वहीं पर बस गया। परिणाम यह हुआ कि दक्खिन के विभिन्न स्थानों में मराठी, तेलगु, कन्नड़ बोलने वाले लोगों ने दिल्ली और उसके आसपास की जगहों में बोली जाने वाली हिन्दी को अपना आरम्भ किया। दक्खिन में हिन्दी को अपनाने का यह एक कारण था। दक्खिन में हिन्दी को अपनाने के इसके अलावा भी कारण थे। आक्रमणकारियों के अलावा सूफी-सन्त उत्तर से दक्खिन में उन जगहों पर पहुँचे। उनके साथ बड़ी-बड़ी शिष्य मण्डलियाँ भी चला करती थीं। इनकी भाषा दिल्ली की हिन्दी ही होती थी। सूफी जैसे तो फारसी के जानकार लोग थे, पर जनता में प्रचार के लिए हिन्दी भाषा ही हो सकती थी, जिसको उन्होंने उत्तर में वर्षों रहकर सीख रख था। लोकप्रियता हासिल करने का माध्यम भी हिन्दी ही हो सकती थी। ये गाहे बगाहे इस्लाम का प्रचार भी कर रहे थे।

तीसरा कारण मध्ययुग के भारतीय सन्तों, भिन्न-भिन्न तरह के योगियों, नाथ-सिद्धों के हिन्दी को अपनाने का भी प्रभाव था, जिससे उत्तर से दक्षिण तक के इलाकों में हिन्दी का प्रचार हुआ। एक सांस्कृतिक भाषा के रूप में सभी स्थानों के लोग थोड़ी बहुत जानकारी इसकी प्राप्त कर ही लेते थे।

इस तरह दक्खिनी की मुख्य भाषिक संरचना खड़ीबोली हिन्दी की है, पर उस पर एक ओर पंजाबी और अन्य उत्तर भारत की बोलियों का असर है, और दूसरी ओर तेलगु, मराठी, गुजराती और कन्नड़ (गुलवर्गा क्षेत्र में) के शब्दों का उसमें मिश्रण है, और इसके साथ ही अरबी-फारसी के अधिक मात्रा में शब्दों के प्रयोग के साथ फारसी काव्य-रूपों का भी कहीं-कहीं प्रभाव दिखाई देता है। लिपि भी अरबी (फारसी) है।

दक्खिनी हिन्दी के साहित्यकारों में ख्वाजा बंदानेवाज गेसूदराज का नाम पहले आता है। ये 1318 ई. में दिल्ली में पैदा हुए और बचपन के कुछ वर्षों के बाद इन्हें दौलताबाद जाना पड़ा। फिर वे वापस दिल्ली आकर लम्बे समय तक यहीं रहे। जिन्दगी के अन्तिम वर्षों में पुनः वे गुलवर्गा में रहे। 1423 ई. में उनकी मृत्यु हुई। उनके बाद शाह मीरों जी (मृ. 1496 ई.), बुरहानुद्दीन जानम (1522 ई.), वजही (1609 ई.) और मुहम्मद कुली कुतुबशाह (1564-1612 ई.) और वली औरंगाबादी (1668-1744) आदि अनेक अच्छे कवि हुए। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा' में दक्खिनी के सभी कवियों की रचनाओं का विस्तार से उल्लेख किया है।

दक्खिनी के अनेक कवियों ने अपनी कविता की भाषा को हिन्दवी कहा है। अशरफ पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। उन्होंने लिखा, 'वाचा कीना हिन्दवी में।

किरसा मकतल शाह हुसैन'।<sup>1</sup> (कर्बला की कथा)। इसी तरह बुरहानुद्दीन जानम ने उस भाषा को हिन्दी कहा जिसमें उन्होंने 'इरशादनामा' लिखा। वे कहते हैं

यह सब बोलूँ हिन्दी बोल। पन तूँ अनभौ सेती खोल॥

ऐब न राखें हिन्दी बोल। माने तूँ चख देखें खोल॥

हिन्दी बोलो किया बखान। जेकर फसाद अथा मुंज ज्ञाना॥<sup>2</sup>

वजही दक्खिनी के सबसे मशहूर कवि हुए हैं। ये तुलसीदास के समकालीन थे। 'कुतुब मुशतरी' इनकी आखिरी काव्य-रचना और 'सबरस' गद्य रचना है। वजही ने लिख

दखिन में जो दखिनी मिठी बात<sup>3</sup> का। अछाये<sup>4</sup> किया कोइ इस धात<sup>5</sup> का।<sup>6</sup>

वजही की दक्खिनी मँजी हुई और मधुर भाषा है। दखिन के बारे में वजही कहते हैं

'दखिन सा नहिं ठार संसार में।

निपज फाजिला का है इस ठार में॥

दखिन है नगीना अँगूठी है जग।

अँगूठी कूँ हुरमत<sup>7</sup> नगीना है लगा॥<sup>8</sup>

वजही का एक और उदाहरण देखिए

जो आया झमकता<sup>9</sup> सूरज वाटकर। अंधारा जो था सो गया न्हाट<sup>10</sup>कर  
सुरज यों है रंग आसमानी मनै। कि खिल्या कमल फूल पानी मनै।

'सबरस' से एक गद्य खण्ड का छोटा सा नमूना इस तरह है

“आशिक दिल कूँ शराब का बहुत ध्यान, चतुर सुघरोल<sup>11</sup>,

शराब बगैर नै रहाता एक तिल।

शराब उसे भोत भाया था, शराब पीना उसे आया था।<sup>12</sup>”

दक्खिनी के एक और बड़े मशहूर कवि सुलतान मुहम्मद कुल्ली कुतुबशाह ने बसंत, वर्षा, शरद-उत्सव, नखशिख आदि से लेकर अपनी प्रेमिकाओं तक के अनेक विषयों पर सुन्दर और चित्ताकर्षक कविताएँ लिखी हैं। कुल्ली कुतुबशाह को दक्खिनी का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। उन्होंने अरबी-फारसी शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है। बसंत की कुछ पंक्तियाँ देखिए

बसंत आया सकी जो लाल गाला। कुसुम चोला...

पपीहा गावता है मीठे वैनाँ। मधुर रस दे अधर रस का पियाल्ला॥

कण्ठी कोयल सरस नाँदा सुनावै। तनन् तन् तन् तनन् तन्तन् तला लो॥

गरज बादल ते दादुर गीत गावै। कोयल कूके सो फुलवन के खियाल्लाँ॥<sup>13</sup>

एक और कविता 'प्रेमी अधीर' से ये पंक्तियाँ कितनी दिलकश हैं

'पिया बाज प्याला पिया जाय ना। पिया बाज एक तिल जिया जाय ना॥

कहेते पिया बिन सबूरी करूँ। कहया जाय अम्मा<sup>14</sup> किया जाय ना॥

नहीं इश्क जिस वह बड़ा कूड़<sup>15</sup> है। कधीं उससे मिल बैसिया<sup>16</sup> जाय ना॥

कुतुब शह न दे मुज दिवाने कूँ पद।

दिवाने कूँ कुछ पद<sup>17</sup> दिया जाए ना॥<sup>18</sup>

कुल्ली कुतुबशाह की दखिनी पर फारसी का प्रभाव दिखाई नहीं देता। उनकी कविता पूरी तरह से हिन्दी रंग में रंगी हुई कविता है। ठेठ हिन्दुस्तानी तर्ज की। सूफियों की तरह आध्यात्मिकता का मुलम्मा भी उस पर नहीं है। हाड़ मांस की शृंगारिकता है। हिन्दुओं के पर्वों पर उनकी कविताएँ हैं, पक्षियों पर कविताएँ हैं।

'पपीहा गावता है मीठे वैना। मधुर रस के अधर रस का पियाल्ला।'

कंठी कोयल सरस नाँदा सुनावै। तनन् तन् तन् तनन् तन् तलाल्ला॥

इसे हिन्दी के अलावा आप और क्या कहेंगे। खूबसूरत और मनोहारी कविताएँ कुल्ली कुतुबशाह की विशेषता है। वास्तव में दक्खिन में कुल्ली कुतुबशाह ही दक्खिनी हिन्दी के सही मायने में पहले ऐसे कवि हुए जिन्होंने फारसी के प्रभाव को एक किनारे करके दक्खिनी-हिन्दी काव्य को बहुत ऊँचाई तक पहुँचाया। दक्खिनी साहित्य को हिन्दी कहने के तार्किक आधार को कुतुबशाह की कविता और पुष्ट करती है।

बीजापुर और गोलकुण्डा के बाद दक्खिनी का केन्द्र औरंगाबाद हुआ। वजह यह थी कि औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा दोनों को क्रमशः 1686 और 1687 ई. में मुगल साम्राज्य का हिस्सा बनाने में सफल हुआ, और औरंगाबाद को उसने शाही केन्द्र बनाया। इसी औरंगाबाद में वली पैदा हुए, जिन्हें कुछ विद्वानों ने उर्दू का प्रथम कवि होने का श्रेय दिया है। फिराक ने भी यह लिखा है कि “केवल भाषा की ही नहीं, बल्कि भावों की दृष्टि से वली दकन की अपेक्षा आधुनिक उर्दू के अधिक समीप मालूम होते हैं।<sup>19</sup>

वली औरंगाबाद में 1668 ई. में पैदा हुए और इनकी मृत्यु 1744 ई. में अहमदाबाद में हुई। दक्खिनी हिन्दी के कवियों में गजल कहने वाले कम हुए हैं। वली से पहले मुख्य रूप से कुल्ली कुतुबशाह या दो एक और कवि ही गजल कहने वाले हुए। दक्खिनी में मसनवियों का अधिक प्रचलन था। वली मुख्य रूप से गजल के कवि हैं। अपनी गजलों से ही ये मशहूर हुए। वली का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने दिल्ली के अपने दूसरे प्रवास में यहाँ के कवियों को अपनी गजलों से इतना प्रभावित किया कि दिल्ली के कवियों का झुकाव हिन्दी में गजल कहने की ओर हुआ। वरना अधिकतर लोग फारसी में ही लिखने के कायल थे। वली पहली बार 1700 ई. में दिल्ली आए थे, जब औरंगजेब शासन कर रहा था, और दूसरी बार 1722 ई. में दिल्ली

आए, जब मुहम्मद शाह शासक था। इसी दूसरे प्रवास में उनके हिन्दी शेरों की धूम मची। उनका एक मशहूर शेर है

“दिल ‘वली’ का ले लिया दिल्ली ने छीन।  
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सँ।”

फिराक ने उनके शेरों के बारे में लिखा है “उनके शेरों से लोगों को उर्दू में काव्य-रचना करने की रुचि उत्पन्न हुई।”<sup>20</sup>

‘गुलशने हिन्द’ में उनकी ‘हिन्दी कविता’ के संग्रह का जिक्र आता है। फिराक का यह भी कहना है कि “इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा वली की भाषा में काफी दकनीपन मालूम होता है। ‘तेरा’ की बजाय ‘तुझ’ ‘से’ की बजाय ‘सेती’, ‘तरह’ की जगह ‘नमन’, ‘हम’ की जगह ‘हमन’ आदि का प्रयोग उनके यहाँ खूब मिलता है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुतुबशाही और आदिलशाही कवियों की अपेक्षा दकनीपन उनकी भाषा में कम है।”<sup>21</sup>

फिराक साहब वली को उर्दू का ‘आदि कवि’ मानते हैं। उनकी एक गजल के दो शेर ये हैं

तुझ लब की सिफत लाले बदख़ाँ से कहूँगा,  
जादू हैं तेरे नैन गजाला से कहूँगा।  
जखी किया है मुझे तेरे पलकों की अनी ने,  
यह जख़ तेरा खंजरे-भाला से कहूँगा।

एक और गजल के दो शेर हैं

बेवफ़ाई न कर खुदा सँ डर,  
जग हँसाई न कर खुदा सँ डर।  
है जुदाई में जिन्दगी मुश्किल,  
आ जुदाई न कर खुदा सँ डर।

फिराक ने जो यह कहा है कि वली की कविता से ‘लोगों को उर्दू में काव्य-रचना करने की रुचि उत्पन्न हुई’, इस पर बहस की काफी गुंजायश है, पर इससे एक बात साफ होती है कि 18वीं सदी ई. के वली से पहले का जो दक्खिनी साहित्य है, उसे हिन्दी का ही साहित्य कहना चाहिए। वैसे तो दक्खिनी पर लिखने वाले लगभग सभी विद्वान केवल दक्खिनी न लिखकर ‘दक्खिनी हिन्दी’ लिखते रहे हैं।

दक्खिनी हिन्दी को लेकर श्रीराम शर्मा ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने दिल्ली की हिन्दी और दक्खिनी हिन्दी के व्याकरणिक साँचे को उदाहरणों के साथ दिया है। दक्खिनी हिन्दी के सर्वनामों की उनके द्वारा दी गई सूची इस प्रकार है

(1) “पुरुष वाचक सर्वनाममैं, तू-तूँ, आप (आदरवाचक), आप अपन/अपस

(निजवाचक), अपन (प्रथम, मध्यम पुरुष वाचक)।

- (2) निश्चय वाचक सर्वनामयह-ए-यू, वह, वो-ओ-ऊ-सो।
- (3) अनिश्चय वाचक सर्वनामकोई, कुछ-कुच, कूच।
- (4) सम्बन्धवाचकजो, सो।
- (5) प्रश्नवाचककौन, क्या-की।”<sup>22</sup>

श्रीराम शर्मा ने बोलचाल और साहित्य दोनों रूपों में दक्खिनी में धातुओं के प्रयोग की अधिकता को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि इसकी (दक्खिनी की) अधिकांश धातुएँ संस्कृत की धातुओं से सम्बन्ध रखती हैं, जो न.भा.आ. तथा आरम्भिक न.भा.आ. के परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए इस तक पहुँची।”<sup>23</sup>

इसी तरह से सभी व्याकरणिक रूपों का श्रीराम शर्मा ने विस्तृत उल्लेख किया है। उन्होंने आजकल की दक्खिनी बोलचाल का एक नमूना दिया है, जो इस तरह है “उसके बाद छोटी शहजादी रोज जंगली फलां खाती, नमाज और कुरान पढ़ती हुई दिन गुजारने लगी। एक दिन छोटी शहजादी फलां तोड़ रही थी। क्या देखती है कि सामने से एक बुड़्डी आ रही है। जंगल बियाबान में बुड़्डी कू देख को शहजादी कू जख हिम्मत हुई, जब बुड़्डी नजदीक आई तो शहजादी से पूछी, अगे बेटी तू इत्ती खुबसूरत है, आखिर तुझे क्या दुक है जो इत्ता रो रीये। शहजादी उस कू अपनी पूरी कता सुनाई और उसे बोलीए नानी, दुवा करके खुद मेरे दिन फेर दे।”<sup>24</sup> क्लानी सबरपाशा’ मेरा अपना सोचना है कि दक्खिनी को हिन्दी की एक बोली के रूप में मानना चाहिए। दक्खिनी के साहित्य के साथ उसके भाषिक साँचे को देखते हुए यही सही जान पड़ता है। दक्खिनी मानक-हिन्दी से उसी तरह से थोड़ा अलगाव लिए हुए दिखाई देती है, जिस तरह ब्रज या अवधी या भोजपुरी और दूसरी बोलियाँ दिखाई देती हैं। जिनकी संरचना के घटक तो हिन्दी के हैं, पर साथ ही उनकी कुछ अपनी विशिष्टताएँ भी हैं। उनके अपने अलग शब्द भी हैं, व्यवहार के अपने ढंग भी हैं। दक्खिनी को इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए।

साथ ही उर्दू को भी इसी की तरह हमें लेना पड़ेगा। दरअसल दक्खिनी को भी और उर्दू को भी हिन्दी की बोलियों के रूप में मानना चाहिए। जो लोग यह कहते हैं कि उर्दू साहित्य की शुरुआत दक्खिनी से हुई वे गलतफहमी के शिकार हैं। दक्खिनी की धारा अलग है, उसे उर्दू का पूर्ववर्ती रूप नहीं कहना चाहिए। दक्खिनी आजकल भी हैदराबाद और आसपास के इलाकों में बोली जाती है, जिसका उर्दू से अलगाव बहुत साफ दिखाई देता है। इन दोनों का आपसी सम्बन्ध यह है कि दोनों ही दिल्ली और उसके पास की हिन्दी से सम्बन्धित हैं।

एक तथ्य जिसे जानना चाहिए और जिसकी ओर सामान्यतया लोगों का ध्यान नहीं जाता, वह यह है कि दिल्ली और पास के दूसरे इलाकों में बोली जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी में सिलसिलेवार काव्य रचना की ओर जन-रुझान 14वीं से 18वीं के शुरु

होने तक कम रहा। इस दौर में ले देकर अमीर खुसरो और नजीर अकबराबादी जैसे कुछ कवि हुए हैं। जबकि इस दौरान दक्खिन में दिल्ली से ही वहाँ पहुँची खड़ी बोली में लगातार साहित्य रचना हो रही थी। मीर तकी मीर 1722 ई. में और गालिब 1797 ई. में पैदा हुए। मतलब यह कि इतने महान कवियों के पचास साल पहले भी दिल्ली की भाषा में ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जो उल्लेखनीय हो। इसका कारण फारसी का दबदबा रहा है। फारसी सरकारी कामकाज की भाषा तो रही ही, आभिजात्य वर्ग की भाषा भी थी, सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भाषा भी। गालिब भी अपनी फारसी कविताओं को ही महत्वपूर्ण मानते रहे, हिन्दवी की गजलें तो बस यूँ ही छपवा ली थीं। यह और बात है कि आज हिन्दी-उर्दू की गजलों की वजह से वे महात शायर हैं।

आरम्भ से ही जो मुस्लिम आक्रमणकारी यहाँ आए, वे अलग-अलग भाषाओं के बोलने वाले थे। महमूद गजमी और खल्जी बादशाहों की भाषा तुर्की थी, पठानों की पश्तो थी, अरब से आने वालों की भाषा अरबी थी। इनमें मोहम्मद ऐसा था जो ईरानी था। मतलब यह कि फारसी तो केवल ईरानियों की भाषा थी, पर फारसी यहाँ एक लम्बे अरसे तक सरकारी भाषा के साथ-साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान और साहित्य रचना की भाषा रही। उसका कारण यह था कि राजाओं के यहाँ फारसी बोलने वाले ईरानी बड़े-बड़े ओहदों पर धीरे-धीरे काबिज हुए। फारसी के तबे की बढ़ती में उनका बड़ा हाथ रहा। अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में ऐहतिशाम हुसैन ने लिखा है कि “जो मुसलमान यहाँ आए थे वे तुर्की, अरबी, फारसी और दूसरी मध्य एशियाई भाषाएँ बोलते थे किन्तु उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यवहार का माध्यम फारसी थी।”<sup>25</sup>

रामविलास शर्मा ने यह लिखा है कि “फारसी के राजभाषा होने से खड़ीबोली को जातीय भाषा के रूप में उभरने का अवसर न मिला, दिल्ली से दूर बीजापुर और गोलकुण्डा में वह साहित्य का माध्यम बनी, दक्खिन में राजाओं ने उसे राजभाषा बनाया, लेकिन अपने इस अधिकार से वह अपने जन्मस्थान दिल्ली ही में वंचित रही।”<sup>26</sup>

मतलब यह कि फारसी ने हिन्दी को उसी तरह दबाए रखा जैसे कि बाद के अंग्रेजी राज में अंग्रेजी ने दबाए रखा था। भाषा के परिदृश्य को देखते हुए फारसी और अंग्रेजी में कई समानताएँ दिखाई देती हैं। दोनों को अपने-अपने समय में राजभाषा का दर्जा हासिल था। सरकारी कर्मचारियों को उसी तरह से फारसी के सीखने की मजबूरी थी, और मशक्कत करनी पड़ती थी, जैसी कि बाद में अंग्रेजी सीखने में करनी पड़ी। यहाँ की भाषाओं को अपनी जगह बनाने में फारसी से जैसा संघर्ष करना पड़ा, बाद के काल में अंग्रेजी से वैसा ही संघर्ष करना पड़ा। इस तरह की अनेक समानताएँ मिलती हैं।

रामविलास शर्मा ने ‘भाषा और समाज’ में लिखा है कि “जहाँ तक हिन्दी क्षेत्र का सवाल है, यहाँ राजभाषा फारसी का शासन बना रहा। इसे मेलजोल का चिह्न नहीं

कहा जा सकता। इसे स्पष्ट रूप से सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत सांस्कृतिक उत्पीड़न का चिह्न मानना चाहिए।”<sup>27</sup>

रामविलास शर्मा ने सही कहा है। मुझे यह कहने में झिझक नहीं है कि यही सांस्कृतिक उत्पीड़न की भाषा अंग्रेजी-राज में अंग्रेजी रही। आज आजादी के साठ साल बाद भी हम उसी सांस्कृतिक शोषण के शिकार हैं। और विडम्बना यह है कि बड़े गर्व के साथ अपना सांस्कृतिक शोषण करवा रहे हैं।

दक्खिन में 14वीं शताब्दी में जब बहमनी राज्य की स्थापना हुई तो वहाँ सरकारी कामकाज के लिए हिन्दी को अपनाया गया। कारण यह था कि शासक वर्ग उत्तर से आया था जो हिन्दी बखूबी जानता था। दक्खिन के इलाकों में फारसी का कोई दबदबा भी नहीं था। वे इलाके मराठी और तेलगु भाषी थे। इसलिए हिन्दी ही वहाँ की उपयुक्त भाषा हो सकती थी। फिर कुछ सूफ़ी सन्त जो वर्षों से दिल्ली में रह रहे थे, और जिन्होंने जन सम्पर्क के लिए ही नहीं वरन् काव्य रचना के लिए भी फारसी के साथ-साथ हिन्दी को भी अपना लिया था, वे भी दक्खिन पहुँचे। ख्वाजा बंदानेवाज गेसूदराज, शाह मीरा जी, अशरफ, बुरहानुद्दीन जानम आदि जिनका उल्लेख पहले हुआ है, ऐसे सूफ़ी सन्त थे जिनकी काफी ख्याति थी और जो हिन्दी में काव्य रचना कर रहे थे। कुल मिलाकर असर यह हुआ कि दक्खिन में हिन्दी के व्यवहार की गति अधिक तीव्र साबित हुई। और हिन्दी को राजभाषा बनाने का उपयुक्त माहौल बना। हिन्दी की जगह फारसी को राजभाषा बनाया जाए, ऐसा कोई ईरानी-भारतीय दबाव भी नहीं था। फारसी में लिखने-पढ़ने वालों की तादाद थी, पर फारसी को राजभाषा बनाना चाहिए, इस राजनीति को चलाने में उन्हें सफलता नहीं मिली।

रामविलास शर्मा ने एक स्थान पर यह लिखा है कि, (दक्खिन के) “इन तेलगु और मराठी बोलने वालों पर राजभाषा हिन्दी लादी गई।...दक्खिन में हिन्दुस्तानी जाति ने उत्पीड़क जाति की भूमिका पूरी की। राज्य सत्ता के संकुचित आधार के अनुरूप यहाँ हिन्दी को राजभाषा बनाया गया।”<sup>28</sup>

रामविलास शर्मा का यह कथन सही नहीं है। इसमें जमीनी सच्चाई की बजाय तथाकथित प्रगतिशीलता या कहिए जनवादिता के प्रति अतिरिक्त उत्साह दिखाई देता है। दो-तीन बातें इस सम्बन्ध में कही जा सकती हैं।

एक यह कि मराठी और तेलगु भाषी हिन्दी से बिलकुल अपरिचित रहे हों, यह सच नहीं है। अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त चौदहवीं शताब्दी में भी हिन्दी की थोड़ी बहुत जानकारी उन्हें रहती थी क्योंकि उत्तर से दक्षिण तक लोगों का आना जाना बराबर लगा रहता था। दक्षिण से साधु-संन्यासियों और भक्त-महापुरुषों का आना-जाना भी था। रामानुजाचार्य (1016 ई.) सगुण भक्ति लेकर दक्षिण से उत्तर आए थे। स्वामी मध्वाचार्य (1197-1276 ई.) गुजरात में हुए। स्वामी रामानन्द (15वीं सदी), बल्लभाचार्य, सन्त ज्ञानदेव (1301 ई.) महाराष्ट्र के सन्त जिन्होंने अपने को गोरखनाथ की शिष्य

परम्परा में बताया। बनारस, इलाहाबाद, हरिद्वार जैसे तीर्थ स्थानों पर भारी संख्या में दक्षिण के लोग भी आते थे।

दूसरी बात यह कि बहमनी शासक यदि हिन्दी को राजभाषा न बनाते तो फारसी को राजभाषा बनाते, मराठी, तेलगु भाषियों में फारसी जानने वाले तो नगण्य ही थे। यदि यह कहा जाय, जिस ओर रामविलास शर्मा का संकेत भी है, कि मराठी-तेलगु को राजभाषा क्यों नहीं बनाया गया, तो उस समय की राजशाही और सामन्ती माहौल को देखते हुए यह विचार बिलकुल बेतुका और हास्यास्पद लगेगा।

तीसरी बात, मराठी और तेलगु आपस में भी एक-दूसरे से बिलकुल अपरिचित भाषाएँ हैं। फिर हिन्दी सीखना दोनों के लिए अपेक्षाकृत आसान था। मराठी भाषियों के लिए तो और भी आसान था, मराठी की लिपि देवनागरी ही थी।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बहमनी राजाओं का हिन्दी को राजभाषा बनाने का निर्णय हर तरह से उचित और समयानुकूल था। रामविलास शर्मा को भी अन्त में यह टिप्पणी देनी पड़ी, “किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि फारसी को राजभाषा बनाने वाले तुर्क और मुगल बादशाहों की तुलना में हिन्दी को राजभाषा बनाने वाले बहमनी बादशाह ज्यादा प्रगतिशील थे।”<sup>29</sup>

कुछ लेखकों ने दक्खिनी की रचनाओं को उर्दू का आरम्भिक रूप मानते हुए हिन्दी से उसे अलगाने की कोशिश की है। गोया कि दक्खिनी से उर्दू की धारा शुरू हुई। यह सही नहीं है। सही यह है कि सूफी सन्त हों, या खलजी और तुगलक के साथ जाने वाले दिल्ली के बाशिन्दे हों, ये लोग दिल्ली की हिन्दी को ही दक्खिन में ले गए थे। और उसे हिन्दी जानते समझते हुए ही उसमें लिख रहे थे। साहित्य की भाषा के रूप में उर्दू की पहचान अभी बनी नहीं थी। यह पहचान बहुत बाद में बनी। मीर और गालिब के जमाने के थोड़े अरसा पहले। मीर और गालिब दोनों ही अपने दीवान को हिन्दवी का दीवान कहते हैं। गालिब ने एकाध जगह अपने दीवान के लिए हिन्दवी और उर्दू का साथ-साथ प्रयोग किया है। मुंशी गुलाम गौस खाँ ‘बेखबर’ ने गालिब के खतों का पहला संकलन, गालिब की इजाजत से, प्रकाशित किया था। उस संकलन का नाम था ‘ऊद-ए-हिन्दी’।

इसका अर्थ यह है कि गालिब तक हिन्दी और उर्दू दोनों नाम समानार्थी थे। एक के स्थान पर दूसरा नाम लिया जा सकता था। वैसे मतभेद पैदा करने के प्रयास फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (1800 ई.) से आरम्भ हो गए थे। हर क्षेत्र में मतभेद पैदा करना अंग्रेजी हुकूमत की एक खास नीति थी। हिन्दी-उर्दू में विभेद पैदा करने में फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी (अर्थात् उर्दू) के प्रोफेसर गिलक्राइस्ट की अग्रणी भूमिका रही।

## सन्दर्भ-स्रोत

1. राहुलदक्खिनी हिन्दी काव्यधारा, पृ. 6
2. वही, पृ. 8
3. मीठी भाषा।
4. पूरा।
5. भाँति,
6. वही, पृ. 21
7. इज्जत।
8. तक।
9. चमकता।
10. भागकर (पंजाबी)।
11. सुघर।
12. ‘सबरस’ सं. श्रीराम शर्मा, हैदराबाद, 1955 ई., पृ. 23
13. राहुलदक्खिनी हिन्दी, पृ. 86
14. लेकिन।
15. अंधा।
16. मिल बैठना।
17. उपदेश,
18. कुल्लियात, भाग 2, पृ. 23
19. उर्दू भाषा और साहित्य, पृ. 8
20. उर्दू भाषा और साहित्य, पृ. 9,
21. वही, पृ. 11
22. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1964, पृ. 196,
23. वही, पृ. 230,
24. वही, पृ. 272
25. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ. 20
26. भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1973, पृ. 313
27. वही, पृ. 293
28. भाषा और समाज, पृ. 300, 2. वही, पृ. 300

With Best Compliments from

PRECISION PIPES  
AND  
PROFILS LTD.

B-45 PHASE II  
NOIDA (U.P.)

## दक्षिण भारत में हिन्दी का रचनात्मक लेखन : एक विवेचन

विजयराघव रेड्डी\*

मध्य देश की भाषा हमेशा भारत की सार्वदेशिक सम्पर्क भाषा रही है। वरेण्य भाषा भी रही है। देश के सभी क्षेत्रों के विद्वान व साहित्यकारों ने उस भाषा एवं साहित्य की श्रीवृद्धि में और उसके प्रचार-प्रसार में अतुलनीय योगदान प्रदान किया। उस भाषा की समृद्ध साहित्यिक कृतियों का अनुवाद अपनी-अपनी भाषाओं में कर 'भारतीय साहित्य' नामक एक संकल्पना को जन्म लेने तथा उसे परिपुष्ट करने में सतत प्रयत्न किया। संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रमाण प्रस्तुत करता है कि क्या दक्षिण, क्या उत्तर, क्या पश्चिम और क्या पूरब सभी दिशाओं से सभी भारतीय भाषाएँ बोलने वालों ने संस्कृत भाषा में साहित्य रचा, ऐसा वैसा साहित्य नहीं, कालजयी साहित्यिक कृतियों की रचना की। संस्कृत के परवर्ती काल में प्राकृत व पाली भाषाओं में साहित्य का निर्माण भारत की सीमाओं को पार कर समुद्र पार देशों में भी होने लगा।

संस्कृत, प्राकृत व पाली के बाद उसी मध्य देश की भाषा ब्रज भाषा पूरे देश में साहित्यिक भाषा के रूप में समादृत होती रही और मध्य देश के बाहर जगह-जगह ब्रजभाषा में साहित्य का सर्जन होता रहा; कहीं ब्रजबुली के नाम से, कहीं अंकिया नाटकों में पात्रों के संवादों में, और कहीं हिन्दुस्तानी के नाम से। यही भाषा साहित्यिक कृतियों में कहीं तेलुगु लिपि में अंकित हुई तो कहीं बंगला लिपि में और कहीं मलयालम लिपि में। जहाँ तक दक्षिण भारत का सम्बन्ध है, वहाँ तथाकथित खड़ी बोली हिंदी को साहित्यिक मान्यता की प्राप्ति के पूर्व तक ब्रजभाषा में साहित्य का निर्माण हुआ। 18वीं सदी में सुदूर दक्षिण में केरल के राजा स्वाति तिरुनाळ ने ब्रजभाषा में गीत रचे हैं जिनको आज भी संगीतकार चाव से तन्मय होकर गाते हैं। तंजावूर के राजा शरभोजी ने कई यक्षगानों की रचना की है जिनमें इस भाषा का प्रयोग हुआ है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आन्ध्र प्रदेश के मछलीपट्टणम के रहने वाले नादेल्ला पुरुषोत्तम कवि ने इस भाषा में 32 नाटक लिखे हैं जिनका जगह-जगह पर

\*डॉ. विजयराघव रेड्डी 'विजय विलासम्' 3-13-1/10, श्री निवासपुरम, रामन्तपुर, हैदराबाद-500 013

धारवाड कम्पनियों के द्वारा मंचन होता रहा। चूँकि ये नाटक तेलुगु लिपि में अंकित थे, इसलिए, प्रो. भीमसेन निर्मल के द्वारा उनकी खोज कर उन पर शोध कार्य करने तक अज्ञात पड़े रहे।

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में, गाँधीजी के नेतृत्व में हिन्दी प्रचार में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना से और उससे पहले से ही खड़ी बोली में साहित्य-सर्जना, अनुवाद कार्य का दौर प्रारम्भ हो चुका था। इसके प्रमाण मिलते हैं। इस दौर में ही तुलसीकृत रामचरितमानस का तेलुगु में दोहा चौपाई छन्दों में अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ था। 1918 में मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना से हिन्दी का तब से जोरों से पूरे दक्षिण में प्रचार के कारण स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक बड़ी संख्या में ऐसे दक्षिण भारतीय हिन्दी विद्वान तैयार हो गए जिन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार कार्य को अपना धर्म-सा मान लिया था। इनमें से कुछ लोग तभी से हिन्दी में रचनाएँ करने लग गए। हिन्दी में मौलिक रचनाओं के निर्माण की तुलना में उस समय हिन्दी की अधिकांश श्रेष्ठ कृतियाँ विशेषकर उपन्यास इन द्विभाषी हिन्दी विद्वानों के प्रयासों से दक्षिण की चारों भाषाओं में अनूदित हुए।

कहने का तात्पर्य है कि स्वाधीनता प्राप्ति के इन सत्तावन वर्षों में दक्षिण भारत में हिन्दी साहित्य का जो सृजन हुआ है, उसके पीछे एक बड़ी परम्परा रही है, और एक मजबूत नींव पर यह साहित्य निर्मित किया जा रहा है।

भले ही आज हिन्दी को सरकारी तन्त्र में वह स्थान न मिला हो जो उसे सार्वदेशिक स्तर पर मिलना चाहिए था, फिर भी अब हिन्दी जन सामान्य में न केवल सार्वदेशिक स्तर पर अपितु समुद्रपार देशों में भी सम्पर्क भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी है। केवल सम्पर्क भाषा के रूप में ही नहीं अब हिन्दी में साहित्य की सर्जना भारत तक सीमित नहीं रही। मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी, ट्रिनीडाड आदि देशों में जहाँ भारतीय मूल के लोग बहुमत में हैं, तथा अन्य सुदूर प्रान्तों में भी उसका सृजन हो रहा है। पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। अब हमें केवल भारत के अहिन्दी प्रान्तों में या दक्षिण भारत में रचे जाने वाले हिन्दी साहित्य पर चर्चा करने के अतिरिक्त समुद्रपार हिन्दी साहित्य (ओवरसीज हिन्दी लिटरेचर) का आकलन करने तथा उस पर चर्चा करने की भी नितान्त आवश्यकता आ पड़ी है।

वर्तमान आलेख का सन्दर्भ दक्षिण भारत में हिन्दी साहित्य-सृजन तक सीमित है। इस सन्दर्भ में मेरे सामने कुछ मूलभूत प्रश्न हैं। कुछ अपने विचार हैं। अपनी विश्लेषण प्रक्रिया है हिन्दी साहित्य की अखिल भारतीय परम्परा को लेकर भी, दक्षिण भारत के हिन्दी लेखकों को लेकर भी।

1. आखिर कोई व्यक्ति अपनी भाषा को छोड़कर दूसरी भाषा में क्यों रचना करता है?
2. क्या हम ऐसे रचनाकारों को द्विभाषी साहित्यकार कह सकते हैं?

3. क्या ऐसे लेखकों के द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ विशिष्ट प्रकार की और कुछ विशिष्ट महत्त्व की होती हैं?

यदि अपने देश की आधुनिक भाषाओं के सन्दर्भ में ही देखें तो हम पाएँगे कि हिन्दी में ही नहीं, बल्कि अन्य आधुनिक भाषाओं में भी साहित्य सर्जना में अन्य भाषा भाषियों ने योगदान दिया। किसी का योगदान स्थायी महत्त्व का एवं युगान्तरकारी रहा तो किसी-किसी का सामान्य व नाम मात्र का था। जहाँ तक दक्षिण भारत के साहित्यों का सम्बन्ध है, आपसी सहयोग और योगदान की परम्परा बहुत पुरानी रही है। कहते हैं कि कन्नड़ साहित्य के आदिकालीन (10 वीं सदी) कवि, पम्प, पौन्न और रन्न, जिन्हें कन्नड़ साहित्य के 'रत्नत्रय' कहा जाता है, तेलुगु प्रदेश के निवासी थे। इसी तरह तेलुगु के आदि कवि नन्नय (11वीं सदी) के बारे में कहा जाता है कि आपका सम्बन्ध तमिल प्रदेश से रहा था। आपकी रचना में कन्नड़ विद्वान नारायण भट्ट ने सक्रिय योगदान दिया। दक्षिण के प्राचीन कालीन शैव साहित्य (13वीं सदी) में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ एक भाषा के वीरशैव कवियों ने दक्षिण की दूसरी भाषाओं में काव्य रचना की है। वीरशैव कवियों में पाल्कुरिक सोमनाथ ऐसे कवि हैं जिन्होंने तेलुगु और कन्नड़ दोनों भाषाओं में रचनाएँ कीं। कन्नड़ भाषी पाल्कुरिक सोमनाथ को कन्नड़ कवि मानते हैं तो तेलुगु साहित्यकार उन्हें तेलुगु के मानते हैं। दक्षिण में यह परम्परा आधुनिक काल तक चली आती है, जहाँ तमिल एवं मराठी भाषी कन्नड़ में साहित्य की सर्जना कर, और कन्नड़ एवं मराठी भाषी तेलुगु साहित्य की श्रीवृद्धि कर युगप्रवर्तक तक कहलाए। ज्ञानपीठ पुरस्कार तक प्राप्त किए।

अपनी भाषा को छोड़ दूसरी भाषा में रचना करने के कारण कुछ भी रहे हों, इतना तो स्पष्ट है कि यह परम्परा आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में विशेष कर दक्षिण भारतीय साहित्य में गरिमामयी रही है। इस गौरव परम्परा के परिप्रेक्ष्य में विशेषकर हिन्दी प्रदेशों में अन्य भाषियों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत रचनाओं को परखने की समझ अभी हमारे देश में विशेषकर हिन्दी प्रदेशों में विकसित नहीं हुई है।

इन दिनों अन्य भाषियों के द्वारा, जिनमें दक्षिण के व्यक्ति भी पर्याप्त संख्या में हैं, हिन्दी में काफी साहित्य प्रस्तुत किया जा रहा है। कुछ रचनाएँ मौलिक रूप में, कुछ शोध प्रबन्धों के रूप में और कुछ अपनी भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद के रूप में। इन रचनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए इधर कुछ पुस्तकें भी सामने आई हैं, जैसे; अहिन्दी भाषियों की हिन्दी को देन, हिन्दी को केरलियों की देन, राष्ट्रभारती को केरल का योगदान। 22 वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास योजना के अन्तर्गत पंचदश भाग अन्तर भारतीय हिन्दी साहित्य के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें सिंधी समेत बारह अन्य भारतीय भाषियों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत हिन्दी साहित्य का विवरण प्रस्तुत है। इस पुस्तक में भी एकाध अपवाद को छोड़, सम्बन्धित भाषा भाषियों के द्वारा ही अपने लोगों के द्वारा रचित हिन्दी साहित्य

का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, न कि हिन्दी भाषियों के द्वारा।

अपने लोगों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत साहित्य का बखान करते हुए अहिन्दी भाषी विशेषकर दक्षिण भारतीय अक्सर यह शिकायत करते हैं कि उनके साहित्य को हिन्दी जगत् में उचित स्थान नहीं मिला है और उसके स्वागत नहीं किया जा रहा है। दूसरी तरफ हिन्दी के विद्वान यह दलील देते हैं कि “भारत जैसे विशाल देश में हिन्दी में लिखे जा रहे साहित्य का आकलन अभी सम्भव नहीं हो पाया है। इस कारण हिन्दी के विद्वान विशेषकर उसके साहित्य के इतिहासकार अहिन्दी भाषियों के साहित्य के मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे। इसके पीछे उनकी विवशता ही थी, उपेक्षा भाव नहीं। बांगला के हिन्दी लेखकों के साहित्य एवं उस भाषा से अनूदित साहित्य जिसका आकलन सम्भव हो सका था, उसका मूल्यांकन हिन्दी साहित्य में हुआ है। अलावा इसके ऐसे साहित्य के मूल्यांकन में इतिहासकारों का मूल्य विवेक भी काम करता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।” (डॉ. नगेन्द्रसंपादकीय से, हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, खण्ड-15)

नगेन्द्र के संपादकीय से जो बातें खुलती हैं वे हैं

1. हिन्दी के विद्वान व साहित्य के इतिहासकारों में दक्षिण भारत के हिन्दी रचनात्मक लेखन के प्रति कोई उपेक्षा भाव नहीं है।
2. उस लेखन के मूल्यांकन करने में वे असमर्थ इसलिए रहे कि उसका आकलन संभव नहीं हो पाया है।
3. तात्पर्य है जब आकलन होगा तब मूल्यांकन भी होगा। और
4. मूल्यांकन में इतिहासकारों का मूल्य विवेक भी होता है, जिसको नजरांदाज नहीं किया जा सकता है।
5. तात्पर्य है जो साहित्य मूल्य विवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरा उसे इतिहास में सम्मिलित नहीं किया गया।

प्रश्न उठते हैं कि इस सम्पादकीय को लिखे हुए 25 वर्ष बीत गए। इन वर्षों में

1. क्या दक्षिण के लेखकों के साहित्य का आकलन किया गया?
2. किसने आकलन किया?
3. आकलन हुआ तो कितना?
4. उस आकलित किए गए साहित्य का क्या मूल्यांकन संभव हुआ है?

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखने की बात है कि दक्षिण भारत से सर्जनात्मक साहित्य की तुलना में निबन्धों के रूप में मौलिक साहित्य तथा अनूदित साहित्य बड़ी मात्रा में हिन्दी में आ रहा है। बड़ी मात्रा में हिन्दी में आ रहे इस साहित्य का बड़ा महत्त्व इसलिए है कि संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुसार हिन्दी को गुरुतर भार का निर्वहण करना है; भारत की सामाजिक संस्कृति की संवाहिका बन कर। इस

निर्वहण के लिए हिन्दी को इस साहित्य का स्वागत करना चाहिए। हिन्दी साहित्य की गरिमा इतर भारतीय साहित्यों की तुलना में विशिष्ट है। विशिष्ट इसलिए है कि उसे भारतीय साहित्य का प्रतिनिधि व प्रतिरूप बनना चाहिए। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा हिन्दी में लिखा हुआ साहित्य ही हिन्दी साहित्य के दायरे में नहीं आता, अपितु हर कोई भारतीय भाषा का साहित्य जो अनूदित होकर हिन्दी में उपलब्ध हो रहा है, उसे भी हिन्दी साहित्य के दायरे में मानना चाहिए।<sup>1</sup> तभी हिन्दी भारतीय साहित्य की अवधारणा को साधने तथा सामासिक संस्कृति की संवाहिका बनने का साधन बन सकती है।

लेकिन दुर्भाग्य यह है कि नगेन्द्र के कथन के 25 वर्ष बीत जाने के बाद भी दक्षिण भारत के कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलुगु भाषियों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत हिन्दी साहित्य का कोई आकलन नहीं हुआ है। कोई ऐसा अभिकरण भी नहीं है जो इस कार्य को निभाए। जब आकलन ही नहीं हुआ तो मूल्यांकन की बात कौन कहे?

“बांगला के हिन्दी लेखकों के साहित्य एवं उस भाषा से हिन्दी में अनूदित साहित्य का आकलन सम्भव हो सका था, उसका मूल्यांकन हिन्दी साहित्य में हुआ है।” डॉ. नगेन्द्र का यह कथन गुमराह करने वाला है। क्योंकि बांगला से जो साहित्य हिन्दी में आ रहा है, और बांगला भाषा से जो साहित्य हिन्दी में अनूदित होकर आ रहा है वह उन लोगों के द्वारा नहीं आ रहा है, जिनकी मातृभाषा बांगला है। यह सारा साहित्य हिन्दी मातृभाषा भाषियों के द्वारा आ रहा है। कोलकाता दिल्ली से पहले देश की राजधानी होने के कारण कई हिन्दी परिवार बहुत पहले वहाँ जाकर बस गए थे। उनकी सन्तान जो वहीं पैदा हुई, वहीं शिक्षित हुई, और वहीं की होकर भी अपनी हिन्दी भाषा, साहित्य व संस्कृति से जुड़ी रही, ऐसे द्विभाषी विद्वान साहित्यकारों के द्वारा हिन्दी में रचित साहित्य व अनूदित साहित्य को बांगला भाषियों का लिखा हुआ साहित्य नहीं माना जाएगा। यह वह साहित्य नहीं है जिनकी रचना बांगला भाषी ने की है। कहने का तात्पर्य यही है कि डॉ. नगेन्द्र द्वारा उद्दिष्ट साहित्य को उस श्रेणी में रखा नहीं जा सकता जो हिन्दीतर भाषियों के द्वारा निर्मित साहित्य और अनूदित साहित्य है।

डॉ. नगेन्द्र का यह कथन ‘मूल्यांकन में इतिहासकारों का मूल्य विवेक भी होता है, एक प्रकार से उन लोगों के जवाब में है जो यह शिकायत करते हैं उनके साहित्य का हिन्दी जगत् में स्वागत नहीं होता। परोक्ष रूप में उनका जवाब यही लगता है कि उनका साहित्य स्तरीय नहीं होता। या यों कहिए कि हिन्दी के मुख्य धारा साहित्य में समाहित करने के लायक नहीं होता, उनका साहित्य अभी हाशिए में ही रखने लायक है।’

संविधान के अनुच्छेद 351 के तहत हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति की संवाहिका बनाने के लिए ऐसे साहित्य का निर्माण व अनुवाद आवश्यक है जो समस्त भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित कर सके। हिन्दी और अहिन्दी प्रदेशों के लेखकों के

संयुक्त प्रयास से यह सम्भव होगा। हिन्दी भाषी लेखकों में अहिन्दी भाषाओं विशेषकर दक्षिण की भाषाओं व संस्कृति तथा उनके साहित्य व इतिहास के ज्ञाताओं के अभाव के कारण आज तक अहिन्दी भाषी ही इस दायित्व को निभाते आ रहे हैं। अपने सीमित साधन और सामर्थ्य से वे जो साहित्य हिन्दी में प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे प्रादेशिक प्रभेदों को लिए निर्माणाधीन हिन्दी भाषा का अन्तर भारतीय स्वरूप भले ही सामने आ रहा हो, लेकिन इससे हिन्दी साहित्य के आधारफलक का गुणात्मक व परिमाणात्मक दृष्टि से ऐसा विस्तार नहीं हो पा रहा है जिससे कि उसे भारतीय साहित्य के प्रतिनिधि प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जा सके। 'भारतीय साहित्य' को हम अंग्रेजी के माध्यम से जानने और स्वीकार करने में अपनी शान समझते हैं। हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य से समीकृत करने की दिशा में न सोचकर, हम और हमारी सारी संस्थाएँ अपनी सारी शक्ति को अंग्रेजी की तरफ लगा रही हैं। अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय साहित्य की आत्मा के सर्वांगीण रूप को प्रतिबिम्बित नहीं किया जा सकता। यदि हम सच्चे अर्थ में भारतीय साहित्य को हिन्दी के माध्यम से ग्रहण करना चाहते हैं और हिन्दी को भारतीय साहित्य का अमली जामा पहनाना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र की साधन सम्पत्तियों को अंग्रेजी की तरफ से हटाकर हिन्दी की ओर मोड़ना होगा। लगता है कि अंग्रेजी के मोह से जकड़ी हुई हमारी मानसिकता इसके लिए अभी तैयार नहीं है। इस प्रबल कारण से भी जो भी और जैसा भी साहित्य दक्षिण भारतीयों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत किया जा रहा है, उसका स्वागत नहीं हो पा रहा है, और न ऐसे साहित्य को लेकर कोई गम्भीर चर्चाएँ या आलोचनाएँ होती हैं। अगर कहीं कोई छुट-पुट चर्चाएँ होती हैं तो वे भी उन्हीं अहिन्दी भाषी-समुदायों में जिन भाषा समुदायों ने हिन्दी में रचना की है। यह अपना ढोल पीटने की स्थिति से भिन्न नहीं है। जब इस साहित्य का पाठक वर्ग ही हिन्दी क्षेत्र में नहीं है तो चर्चाएँ कहाँ से होंगी? हिन्दी में आ रहे दक्षिण के हिन्दी लेखकों के साहित्य के प्रति हिन्दी क्षेत्र के पाठक वर्ग की उपेक्षा को अनदेखा नहीं किया जा सकता। सामान्य पाठक वर्ग की बात छोड़ भी दें, हिन्दी भाषा साहित्य से सीधे जुड़े हुए हिन्दी क्षेत्र के बुद्धिजीवी, साहित्यकार, समीक्षक व शोधार्थी की इस लेखन के प्रति जो घोर उपेक्षा है, इसकी ओर उँगली उठाते हुए वर्षों पूर्व केरल हिन्दी साहित्य मण्डल ने सामूहिक रूप से एक जोरदार मुहिम भी चलाई। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में डॉ. विश्वनाथ अय्यर ने इस दुखद स्थिति पर प्रकाश डाला। स्थिति में परिवर्तन लाने का अनुरोध किया। तब से लेकर हर ऐसे सम्मेलनों में जहाँ दक्षिण के भाषाभाषियों के हिन्दी लेखन की चर्चा होती है, वहाँ इस मुद्दे को उठाया जाता रहा है। समझ में नहीं आता कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की तथाकथित विवशता कब तक बनी रहेगी?

अक्सर एक खूबसूरत पदावली 'आदान-प्रदान' का प्रयोग करते हुए कहा जाता है कि आप लोग साहित्य के आदान-प्रदान कार्य में लगे हुए हैं। लेकिन यह

प्रदान, प्रदान कब तक चलता रहेगा? आदान हिन्दी जगत में कब होगा? आदान हो तभी प्रदान की सार्थकता है। इस समय अहिन्दी भाषी प्रदान कर रहे हैं और स्वयं आदान भी। यह क्रम शुरू से है। अन्यथा जैसा कि मैंने 1968 में ही अन्यत्र उल्लेख किया था, श्री बालकृष्ण राव द्वारा सम्पादित व हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'माध्यम' मासिक के अभूतपूर्व केरल विशेषांक (मई, 1966) और आन्ध्र विशेषांक (अप्रैल-मई, 1968) पर पत्र प्रतिक्रियाओं का जो अम्बार लग गया था उनमें से बहुसंख्यक प्रतिक्रियाएँ अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी लेखकों की तरफ से न रही होतीं।

इस अस्वस्थ परम्परा के कायम रहते हुए भी हिन्दी में लिखने वाले दक्षिण भारतीय भाषाभाषियों को सुकून देनेवाली बात यह है कि उनके लेखन की प्रशंसा में अन्य अहिन्दी भाषियों से पत्र प्राप्त होते हैं, और उनकी हिन्दी रचनाओं को अपनी मातृ-भाषाओं में अनुवाद करने की माँग आती है। अन्यथा इस लेखक की हिन्दी रचनाओं का अनुवाद गुजराती, ओड़िया, मणिपुरी, असमिया और भील आदि आदिवासी भाषाओं में न हुआ होता।

इधर दक्षिण के राज्यों में एक अतिवाद चल पड़ा है कि निचले स्तर के पाठ्यक्रमों से लेकर स्नातकोत्तर हिन्दी पाठ्यक्रमों में अपने प्रदेश या अपने अंचल के ही लेखकों की पुस्तकों को निर्धारित कर पढ़ाना। यह एक प्रतिक्रिया के रूप में है।

हिन्दी भाषी विद्वान साहित्यकारों और इतर भाषाभाषी हिन्दी लेखकों में सौहार्दपूर्ण वातावरण स्थापित होने की आवश्यकता है। मान लीजिए, अगर कोई हिन्दी क्षेत्र का विद्वान हिन्दीतर क्षेत्र के हिन्दी लेखकों से यह पूछे 'तुम लोग अपनी मातृभाषा छोड़कर हिन्दी में क्यों लिखते हो? पुरस्कार पाने के लिए? तुम लोगों को अपनी भाषा में लिखने से पुरस्कार नहीं मिलते हैं न? हिन्दी में लिखने वाले हिन्दीतर क्षेत्र के लेखक को कैसा लगेगा यह हम सोच सकते हैं। दोनों में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिससे कि हिन्दीतर भाषी लेखक को यह न लगे कि उसने हिन्दी में कलम चला के भूल की है। उसे अपनी मातृभाषा में ही लेखन का कार्य शुरू करना चाहिए था।'

तेलुगु साहित्य के इतिहासकारों ने आन्ध्र प्रदेश से बाहर तेलुगु में रचे गए साहित्य का समादर करते हुए उसे एक काल खण्ड में 'दक्षिणांघ्र साहित्य युगमु' (तमिलनाडु में तंजापूर, मद्रै और चैजी में आधुनिक युग के पूर्ववर्ती युग में निर्मित साहित्य) रखकर अध्ययन किया। ऐसी दृष्टि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में विकसित होनी चाहिए।

अहिन्दी प्रदेशों के हिन्दी लेखकों में ऐसा सामर्थ्य विकसित हो कि उनकी रचनाएँ हिन्दी पाठकों को उबाऊ न लगें, वे उन्हें चाव से पढ़ सकें, इसके लिए प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन हो। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के द्वारा आयोजित किए जानेवाले ऐसे नवलेखक शिविरों में भूल-चूक परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी प्रकार हिन्दी क्षेत्र में पठन-आदत को विकसित करने के प्रयास करने के उपाय सोचे

जाने चाहिए।

जिस प्रकार से महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी सम्पादन कला से अपने समय के हिन्दी लेखकों को सुधारा-सँवारा था, उसी प्रकार से इन अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों को सुधारने व सँवारने की आवश्यकता है। साथ ही ऐसे अभिकरण की भी आवश्यकता है जो हिन्दीतर भाषा हिन्दी लेखकों की पुस्तकों के प्रकाशन, मूल्यांकन और वितरण की व्यवस्था को निभा सके।

हिन्दीतर भाषी हिन्दी लेखकों को पुरस्कृत करने की जो योजनाएँ केन्द्र सरकार द्वारा चलाई जा रही हैं; उनका लाभ कुछ हिन्दी भाषी भी उठाना चाहते हैं। वे कहने लगे कि वे भी हिन्दी भाषी नहीं हैं। वे या तो मैथिली भाषी हैं या भोजपुरी भाषी, या छत्तीसगढ़ी भाषी आदि आदि। हिन्दी सीखनी पड़ती है। वे रिकार्डों में और जनगणना में अपनी मातृभाषा हिन्दी दर्ज न कराकर अपनी बोली दर्ज करने लगे हैं।

अभी कुछ समय पहले डॉ. नामवर सिंह के एक साक्षात्कार को लेकर एक बवाल खड़ा<sup>2</sup> कर दिया गया। उन पर आरोप यह है कि

1. वे हिन्दीतर भाषी विशेषकर दक्षिणी भाषाभाषियों के द्वारा निर्मित हिन्दी साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में जोड़ने के पक्ष में नहीं हैं।
2. उस साहित्य का स्तर ठीक नहीं होता।
3. उनके साहित्य पर जो पुरस्कार दिया जा रहा है, वह ठीक नहीं है।
4. जिन हिन्दी साहित्यिक रचनाओं पर उन्हें पुरस्कार मिल रहा है, यदि वे उन रचनाओं को अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत करेंगे तो भी उन्हें वहाँ पुरस्कार नहीं मिलता।
5. दक्षिण भारतीयों को हिन्दी में कलम चलाना नहीं चाहिए।

इन आरोपों को यदि वे स्वीकार नहीं करते तो उन्हें तुरन्त खण्डन करते हुए अपने स्पष्टीकरण देना चाहिए। यह गम्भीर राष्ट्रीय मुद्दा है। इसे नाचीज समझकर उन्हें मौन रहना नहीं चाहिए।

तुष्टीकरण नीति के अनुसार सरकार ने संविधान की आठवीं अनुसूची में मैथिली को जुड़वाकर एक विकट स्थिति पैदा की है। अब तक यह समझा जा रहा था कि 8वीं अनुसूची में जुड़ी भाषाओं में हिन्दी को छोड़ शेष सभी हिन्दीतर भाषाएँ हैं। आगे-आगे भोजपुरी एवं छत्तीसगढ़ी भी इस सूची में जुड़ सकती हैं। आगे की जनगणना की सूचियों में हिन्दी भाषी कहलाने वालों की संख्या घटती जाएगी। इससे हिन्दी का पक्ष कमजोर होने की सम्भावना है जो देश के हित में और हिन्दी साहित्य व हिन्दी रचनाकारों के पक्ष में नहीं है। दक्षिण भारत के हिन्दी लेखकों की रचनाओं के प्रति जो उपेक्षा भरा वातावरण आज जो मौजूद है उसके चलते और सरकार की इस तुष्टीकरण नीति से दक्षिण भारत में हिन्दी रचनात्मक लेखन पर ही

नहीं अनुवाद पर भी बुरा असर पड़ने लग गया है। इसका निदान ढूँढना चाहिए।

## संदर्भ

1. विजयराघव रेड्डी (2004) भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बोड़ो समूह की भाषाओं का साहित्य, भाषा अंक नवम्बर-दिसम्बर 2005, पृष्ठ 133-138.
2. देखिए आलेख 'डॉ. नामवर सिंह का स्वप्न भंग होगा' जो हिन्दी प्रचार वाणी के अक्टूबर 2005 के अंक में प्रकाशित है। पृष्ठ 10-11.

*With Best Compliments from*

**BSN INDUSTRIES (P) LTD.**

**B-201A PHASE II,  
NOIDA (U.P.)**

# बिहार में हिन्दी : उद्गम और प्रगति

श्रीरंजन सूरिदेव\*

निस्सन्देह, हिन्दी की उत्पत्ति बिहार में हुई और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव भी यहीं पड़ी, केवल नींव ही नहीं पड़ी, वरन् उसका प्रथम परिच्छेद भी बिहार में ही लिखा गया। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि संस्कृत की गोद से निकली हुई हिन्दी जिन प्राकृत, पालि और अपभ्रंश भाषाओं के प्यार के प्राकार में परिपुष्ट होकर आज राष्ट्रभाषा के आसन पर समासीन है, उन भाषाओं (प्राकृत, पाली और अपभ्रंश) का भी केन्द्रस्थल या मूलभूमि बिहार ही है।

सभी जानते हैं कि तीर्थंकर महावीर और भगवान् बुद्ध इन दोनों का आश्रय पाकर प्राकृत और पालि अपने समय में जनभाषा या राष्ट्रभाषा बन गई थीं एवं अपभ्रंश ने जैन मुनियों और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक प्रवचन के माध्यम से जनजीवन के अन्तर्मन में वरेण्य स्थान प्राप्त कर लिया था। वस्तुतः, बिहार में विहार करनेवाले जैन और बौद्ध महापुरुषों तथा सिद्धों की उक्त जनभाषा ही परिष्कृत होती हुई राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप में परिणत हो गई।

बिहार को ही यह गौरव प्राप्त है कि उसने हिन्दी को न केवल सरहपा जैसा प्रथम कवि और चिन्तक प्रदान किया, वरन् ज्योतिरीश्वर जैसा सबल गद्यकार भी दिया है। आज से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व के ज्योतिरीश्वर हिन्दी के प्रथम गद्यलेखक थे, यह विवाद-विषय उनकी अमूल्य कृति 'वर्णरत्नाकर' से निर्विवाद है। सात कल्लोलों (अध्यायों या परिच्छेदों) में विभक्त 'वर्णरत्नाकर' में सात विशद वर्णनाएँ हैं। जैसेनगर-वर्णना, नायक-वर्णना, ऋतु वर्णना आदि। इनमें मानव-जीवन के व्यवहार और उपयोग में आनेवाली विविध वस्तुओं का समुचित और सांगोपांग चित्रण हुआ है।

बिहार के कविकोकिल विद्यापति न केवल हिन्दी के आदिकवि के रूप में ख्यात हैं, वरन् समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास में संस्कृत धार्मिक ग्रन्थ, अपभ्रंश-चरितकाव्य और भाषा-गीतिकाव्य की सर्जना-परिपाटी के सन्धिस्थल पर मेरु की तरह अपनी प्राचीनता और अर्वाचीनता को सिद्ध करने वाले के रूप में भी उनकी

\* साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव 37, भारतीय स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, कालीमन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-80

शाश्वती प्रतिष्ठा है।

परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर विद्यापति की प्रवृत्ति और शैली का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि विद्यापति जैसा आदिस्रोत नहीं रहता, तो मध्यकालीन हिन्दी की भक्ति और रीति की धारा का प्रस्फुटन सम्भव न होता। कहना न होगा कि एकमात्र विद्यापति की प्रतिभा से ही उत्तर भारत की समस्त साहित्यिक धाराओं को नवीन उन्मेष मिला।

बिहार में विद्यापति के बाद मध्यकालीन शिव, शक्ति और कृष्णभक्ति-शाखा में उमापति, कवयित्री चन्द्रकला, हरपति, भानुकवि, जीवनाथ, श्रीधर, गोविन्द, महेश ठाकुर, लोचन, गोविन्ददास, कुंजनदास, बबुजन आदि तथा निर्गुण भक्ति-शाखा में धरणीदास, दरियासाहब, शिवनाथदास आदि और तदन्तर्गत सरभंग-सम्प्रदाय में किनाराम, टेकमनराम, भिनकराम, भीखनराम, आनन्दराम, कवयित्री रजपती आदि हिन्दी-सर्जकों के नाम बड़े सम्मान के साथ लिए जाते हैं।

राममार्गी शाखा में शिवदीन, बदलेव कवि, सन्त सूरजदास, रामेश्वरदास, शिवप्रसाद, रामा कौलेश्वर बाबा आदि ने रामभक्ति-साहित्य को प्रशंसनीय समृद्धि प्रदान की है। इसके अतिरिक्त गोसाई-साहित्य के सर्जकों में साहेब रामदास, लक्ष्मीनाथ गोसाई और रामरूपदास के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल भारतीय राजनीति का मुगलकाल है, जिसे हिन्दुओं का सामाजिक और सांस्कृतिक आपत्काल कहा जाता है। मुगलकाल में आद्यन्त बिहार की कोई स्वतन्त्र स्थिति न रहने के कारण शान्ति का अत्यन्त अभाव बना रहा। धर्म और राज्य दोनों प्रकार के आश्रय निराश्रय हो गए थे। अतः, बिहार का तत्कालीन हिन्दी-साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध नहीं है। कम-बेशी जो भी साहित्य उपलब्ध होता है, वह मुख्यतः मिथिला दरबार के द्वारा प्राप्त आश्रय के कारण।

बिहार की पुण्यभूमि मिथिला ने, अपनी विशिष्ट सारस्वत प्रवृत्तियों के कारण वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों सम्प्रदायों का एक वैचित्र्यपूर्ण समाहार उपस्थित किया है। बिहार का मध्यकालीन साहित्य परिमाण में विचेय है सही, परन्तु गुण में पांक्तेय है। जो भी हो, यह सन्दिग्ध है कि बिहार का एतत्कालीन साहित्य, भाव और शैली, दोनों दृष्टियों से, अधिकांशतः मौलिक और प्रभावक भी है।

बिहार के निर्गुण भक्ति-साहित्य की सम्पन्नता के सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि दरियापन्थी और सरभंगी-साहित्य के विषय में उसके एकमात्र विहारी गवेषक डॉ. धर्मन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने पर्याप्त प्रकाश-निक्षेप किया है। इस सन्दर्भ में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद (पटना) से प्रकाशित डॉ. शास्त्री की 'सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन' तथा 'सन्तमत का सरभंग-सम्प्रदाय' ग्रन्थ अत्यधिक प्रमाणिक हैं।

गोसाई-साहित्य मिथिला के वैष्णव भक्तों की एक विशिष्ट देन है। इन वैष्णवों

में प्रायः सभी उच्चकुलागत थे। जनता इन्हें 'गोसाई' शब्द से अभिहित करती थी। उन्होंने देशभाषा-मिश्रित हिन्दी के माध्यम से सगुण भक्ति के प्रचार में अधिक अभिरुचि ली।

रीतिकालीन शृंगार-शाखा में मँगनीराम, मोदनारायण माधव, श्रीपति, महीमती, चक्रपाणि, नन्दीपति, तपसीराम, रामप्रियाशरण (जिन्होंने 'सीतायन' नामक एक बृहत् काव्यग्रन्थ लिखा था और जिसकी एक प्रति मिश्रबन्धुओं को छतरपुर-दरबार में मिली थी) तथा सूर्यपुरा-रियासत के राजा दीवान श्रीराजकुमार सिंह आदि बिहारी कवियों की साहित्यिक देन हिन्दी-संसार के लिए अतिशय गौरव और गरिमा का विषय है।

यह बात बहुविदित है कि हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल तक का समग्र भारतीय साहित्य भोगवादियों, सम्प्रदायवादियों एवं कोरे दर्शनवादियों से संकुल राह। जीवन का जन से कोई लगाव नहीं रह गया था। ऐसे ही समय में बिहार की मिथिला में 'किरतनिया' नाटकों के निर्माण ने प्रशंसनीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। नाटक में जन-जीवन की आत्मा बसती है। मिथिला के 'किरतनिया' नाटकों के द्वारा विलासमग्न राजतन्त्र से यन्त्रित जन-जीवन को ईषत् स्फुरण-स्पन्दन मिला। ऐसी सम्भावना की जाती है कि यह नाटक बंगाल के 'कीर्तन' या 'यात्रा' की शैली पर मिथिला में उमापति द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ और इसीलिए लोग देशी भाषा में इसे 'किरतनिया' कहने लगे।

हिन्दी में सबसे पहला उक्त 'किरतनिया'-संज्ञक मिश्रित भाषा-निबद्ध नाटक विद्यापति का ही लिखा प्राप्त होता है 'गोरक्षविजय नाटक'। कहा जाता है कि यह नाटक मिथिला-नरेश महाराज शिवसिंह के आदेश से पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था। विद्यापति के अतिरिक्त अन्यान्य बिहारी नाटककारों में गोविन्द, देवानन्द, उमापति उपाध्याय, रमापति उपाध्याय, लालकवि, गोकुलानन्द, शिवदत्त, रत्नपाणि, भानुनाथ, हर्षनाथ आदि के नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकनीय हैं।

इस प्रकार, जैन-बौद्धकाल (आदिकाल) से रीतिकाल (सातवीं-आठवीं से सत्रहवीं-अठारहवीं शती) तक ध्यान से देखने पर यह अस्पष्ट नहीं रह जाता कि बिहार में साहित्य की अन्वतिपूर्ण एकतान परम्परा आदितः चली आ रही है, जो समस्त हिन्दी-साहित्य में अपना मूर्द्धन्य स्थान आयत्त करती है। कदाचित् किसी को यह अस्वीकार्य नहीं होगा कि जब भी हिन्दी के विकास-सम्बन्धी किसी विषय पर विवेकशालियों की विवेचनात्मक बुद्धि उद्बुद्ध होगी, तब बिहार की साहित्यिक साधना और सर्जना को प्राथमिकता देनी पड़ेगी।

आधुनिक काल (ई. अठारहवीं-उन्नीसवीं शती) के आधुनिक हिन्दी-गद्य की पहली किरण बिहार के क्षितिज पर फूटी। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता (अब कोलकाता) द्वारा प्रकाशित आरा, शाहाबाद के पं. सदल मिश्र-रचित 'चन्द्रावती' परिष्कृत हिन्दी-गद्य का पहला ग्रन्थ है। यह कृति तत्कालीन फोर्ट विलियम कॉलेज

(कलकत्ता) की वर्नाक्यूलर सोसाइटी के अधिकारियों के आदेश से, पाठ्य-पुस्तकों के लिए गद्यनिर्माण की आवश्यकता पूरी करने के उद्देश्य से लिखी गई। मिश्रजी की भाषा कुछ-कुछ पुरानी शैली की होने पर भी उनकी शब्द-योजना और पद-विन्यास आधुनिक हिन्दी के निकटतम है। बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक-प्रतिष्ठापकों में पं. सदल मिश्र को पांवेतेयता प्रदान की है और कहा है कि मिश्रजी की भाषा में आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास पाया जाता है। उदाहरण :

“उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो-रो कहने लगी कि अरे विधना तैंने यह क्या किया और बिछुरी हुई हिरनी के समान चारों ओर देखने लगी।” (सदल मिश्र : 'चन्द्रावती')

हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक युग के गति-मन्थर होते हुए भी बिहार में गद्य-निर्माण का काम अप्रतिहत रूप से हुआ। यहाँ के मिशनरी पादरियों ने भी धर्म-प्रचार के निमित्त हिन्दी को आधार बनाया। सन् 1909 ई. में 'इंजिल' का अनुवाद 'नए धर्म के नियम' नाम से मुद्रित हुआ और सन् 1818 ई. में 'बाइबिल' का हिन्दी-अनुवाद पूरा होकर प्रकाशित हुआ। इन पादरियों के प्रमुख प्रचार-केन्द्र थे मुँगेर और भागलपुर। मुँगेर के पादरी जॉन साहब कविता भी करते थे। हिन्दी में उनकी 'मुक्ति-मुक्तावली' काव्यकृति प्रकाशित है। यह बात बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण से भी स्पष्ट होती है (द्र. 'बिहार की साहित्यिक प्रगति', प्र. वि. हि. सा. स. पटना)।

उन्नीसवीं शती का मध्यभाग हिन्दी-गद्य की प्रगति की दृष्टि से विशेष महत्त्व का नहीं कहा जाएगा। कचहरियों में उर्दू की प्रधानता थी और पाठ्य-पुस्तकों में अरबी-फारसी शब्दों का बोझ। इस दिशा में राजा शिवप्रसाद 'सितार-ए-हिन्द' भाषा को सुधारने में प्रयत्नशील अवश्य थे, किन्तु उर्दू का व्यामोह छूटा न था। उन्हीं की लिखी पाठ्य-पुस्तकें बिहार के स्कूलों में भी चलती रहीं। पिनकॉट साहब की लिखी 'बाल-दीपक' नाम की पाठ्य-पुस्तक भी, जो चार भागों में खड्गविलास प्रेस (पटना) से प्रकाशित हुई थी, बिहार के स्कूलों में भी पढ़ाई जाती थी।

बिहार के शिक्षा-पाठ्यक्रमों में परिमार्जित हिन्दी-गद्य पुस्तकों का प्रचार तब हुआ, जब भूदेव मुखोपाध्याय के सदुद्योग से बिहार में हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों की रचना होने लगी। इस क्षेत्र में भूदेव मुखोपाध्याय के सत्प्रयत्न की जो देन रही, उसे हिन्दी-जगत् कभी भुला नहीं सकता। सन् 1880 ई. में भूदेवजी की उत्प्रेरणा से ही बाबू रामदीन सिंह ने 'बिहार-दर्पण' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें बिहार के तेईस महापुरुषों की जीवनीयों संकलित हैं। उसी समय बिहार में हिन्दी के प्राण-प्रतिष्ठापक पं. केशवराम भट्ट (बिहारशरीफ) ने हिन्दी व्याकरण लिखा, जिसको प्रामाणिक मानकर हिन्दी-ग्रन्थों की रचना होने लगी। उन्नीसवीं शती के आठवें दशक में ही मुंशी

राधालाल ने एक 'शब्दकोश' हिन्दी में तैयार किया, जो तत्कालीन सरकार द्वारा पुरस्कृत और प्रशंसित हुआ। यह कोश और उक्त भट्टजी का हिन्दी-व्याकरण, दोनों पुस्तकें हिन्दी में अपने विषय की पहली और कदाचित् पहली बार प्रकाशित हैं। इसके बाद तो गणपति सिंह, बंगाली हिन्दीप्रेमी गोविन्द बाबू, लक्ष्मणलाल, रामप्रकाशलाल, सीतारामशरण भगवान प्रसाद (श्रीरूपकलाजी), श्यामबिहारी लाल, संजीवनलाल, पं. बलदेवराम, बाबू गोकर्ण सिंह आदि की गद्य में लिखी विविध विषयक पाठ्य-पुस्तकें चल निकलीं। इस प्रकार, स्वल्पकालिक प्रयास से ही शिक्षा के क्षेत्र में, बिहार ने हिन्दी का डिण्डिम निनादित कर दिया।

उसी समय 'बिहार-बन्धु' नामक हिन्दी-पत्र निकला, जिसके द्वारा लगातार तीस वर्षों तक पं. केशवराम भट्ट ने हिन्दी की शैली को परिमार्जित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। अतिशयोक्ति न होगी कि हिन्दी का जो पौधा बीसवीं शती में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के द्वारा उगाया, उसका बीजारोपण पच्चीस वर्ष पहले ही भट्टजी ने किया था। भट्टजी बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। वे भारतेन्दु के साथ हिन्दी के उन्नयन में योग देनेवालों में विशेष उल्लेख्य हैं। उस समय बिहार की हिन्दी-आराधना में स्पृहणीय तत्परता आ गई। फलस्वरूप, बिहार के कोने-कोने से पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं, जिनमें 'भारतरत्न', 'हरिश्चन्द्र-कला' 'पीयूष-प्रवाह', सारन-सरोज; 'चम्पारण-चन्द्रिका', 'क्षत्रिय-पत्रिका, खत्री-हितैषी आदि पत्र तो आदर्श प्रमाणित हुए। भारतेन्दु-युग में, पं. केशवराम भट्ट के नाटक, निबन्ध, व्याकरण, आलोचना एवं पत्र-सम्पादन के द्वारा बिहार में हिन्दी की प्रगति सदा अग्रसर बनी रही।

बिहार के उद्भूत वैयाकरण, दार्शनिक, पत्रकार, वक्ता, अनुवादक, कवि तथा नाटककार पं. विजयानन्द त्रिपाठी 'श्रीकवि' भारतेन्दु के प्रियमित्रों में थे। उन्होंने भी उस समय हिन्दी-साहित्य की रचनात्मक समृद्धि में पूरा योग दिया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दशम पटना-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पद से उन्होंने जो अपना मुद्रित भाषण पढ़ा था, वह परिष्कृत हिन्दी-गद्य का सुन्दर नमूना है। बिहार के हरिश्चन्द्रयुगीन साहित्यसेवी पं. चन्द्रशेखरधर मिश्र (चम्पारन), श्रीयशोदानन्द अखौरी (आरा), बाबू शिवनन्दन सहाय (आरा), पं. भुवनेशर मिश्र (दरभंगा), सूर्यपुराधीश राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे कवि' (शाहाबाद), पं. गोपानाथ कुमार (मुजफ्फरपुर), रईस महाराजकुमार बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह, ईश (दलीपपुर, शाहाबाद : भोजपुर), रईस बाबू जैनेन्द्रकिशोर जैन (आरा), पं. नकछेदी तिवारी 'अजानकवि' (डुमराँव, शाहाबाद : भोजपुर), दीनदयाल सिंह, लालदास (दरभंगा), मुंशी ब्रजविहारी लाल (मटुकपुर, शाहाबाद : भोजपुर) आदि ने हिन्दी-गद्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया। ये सब के सब हिन्दी-उर्दू के भेद को दूर करने के पक्षपाती थे। बाबू रामदीन सिंह के द्वारा तो न केवल भारतेन्दु की रचनाओं के प्रकाशन का सर्वप्रथम श्रेरु बिहार को मिला, प्रत्युत बिहारी लेखकों के सहयोग से हिन्दी के उत्थान का संकल्प भी बहुत

अंशों में पूरा हुआ। वस्तुतः, बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में बिहार ने हिन्दी की प्रगति में जो योग दिया, वह सर्वथा श्लाघ्य और स्तुत्य है।

बीसवीं शती के पूर्वाह्न तक हिन्दी के प्रति लोकरुचि जागरित हो चुकी थी। सन् 1900 ई. में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से मासिक पत्रिका 'सरस्वती' निकली। हिन्दी का सौभाग्य कहिए कि सन् 1903 ई. से उसका सम्पादन-सूत्र आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के शुभशकुन हाथों में आया। फलतः 'सरस्वती' के सदुद्योग से हिन्दी-साहित्य का प्रवाह शत-सहस्र धाराओं में फूट निकला। द्विवेदी जी के लगातार पन्द्रह वर्षों के अकथ और अथक प्रयास के परिणामस्वरूप भारतेन्दु-युगीन बिहार के हिन्दी के तपस्वियों द्वारा सींची, सजाई गई हिन्दी की वाटिका लहलहा उठी। हिन्दी सज-सँवरकर निखर उठी।

राजा कमलानन्द सिंह द्विवेदी-युग के सर्वप्रथम बिहारी लेखक थे, जिन्होंने बँगला-साहित्य, विशेषतः बंकिम-साहित्य का सुन्दर अनुवाद हिन्दी को दिया। द्विवेदी-युग के दूसरे श्रेष्ठ बिहारी लेखक महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा थे। वे मौलिक विचारों के उत्कृष्ट गद्य-लेखक थे। वे अपनी उद्भूत विद्वता और अद्भुत स्मरण-शक्ति के कारण 'जंगम विश्वकोष' कहलाते थे। महान् दार्शनिक तथा चिन्तक होकर भी उन्होंने अपने हृदय से विनोद का अपनोदन कभी नहीं किया। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) से प्रकाशित 'यूरोपीय दर्शन' एवं रामावतार शर्मा-निबन्धावली', ज्ञानमण्डल वाराणसी से प्रकाशित 'वाङ्मयार्णव' (संस्कृत-शब्दकोश) और फिर स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित 'मुद्गरदूतम्', 'धीरनैषधम्' आदि ग्रन्थ उनके सम्बन्ध में उपयुल्लिखित विशेषताओं को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। सचमुच, म. म. पण्डित रामावतार शर्मा और इनके ही सतीर्थ महामनीषी महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झाये दोनों ही साहित्यमहारथी हिन्दी और संस्कृत-वाङ्मय को शाश्वती प्रतिष्ठा दे गए हैं।

पं. सकलनारायण शर्मा इस युग के धुरन्धर बिहारी लेखक थे। उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नई दिशा दी। व्याकरण-संगत भाषा लिखने में उनकी लेखनी सदा सावधान रहती थी। शर्माजी ने 'शिक्षा' का सम्पादन तथा आरा नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के साथ-साथ नागरी-लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। द्विवेदी-युग के स्वयं द्विवेदीजी द्वारा स्नेह-प्राप्त लेखकों में बिहार के कृतविद्य साहित्यसेवी प्रो. अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द' हिन्दी गद्यरचना के पारगामी विद्वान थे। उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ के संस्कृत-काव्य 'भामिनीविलास' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था। उनके अतिरिक्त 'सरस्वती' के बिहारी लेखकों में पं. जनार्दन झा 'जनरसीदन', पं. गिरीन्द्रमोहन मिश्र, पं. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' आदि के नाम अविस्मरणीय हैं। ब्रजवल्लभजी अपने युग के उपन्यास-सम्राट् थे। उन्होंने ही 'मैथिलकोकिल विद्यापति' नामक आलोचना-पुस्तक लिखकर सबसे पहले शास्त्रोक्त पद्धति से सप्रमाण यह सिद्ध किया कि महाकवि विद्यापति ठाकुर

बिहार के थे, न कि बंगाल के। बिहार के हिन्दी-क्षेत्र में विद्यापति की सादर प्रतिष्ठा कर उन्होंने हिन्दी-साहित्य की चिरस्थायी सेवा की है। उपन्यास के क्षेत्र में अपनी एक ही रचना 'विमाता' से सर्वप्रिय बननेवालों में दरभंगा के बाबू अवधनारायण चिरस्मरणीय हैं। 'बिहारी' के सम्पादक गोकुलानन्दप्रसाद वर्मा और छपरा-निवासी पं. जीवानन्द शर्मा अपने समय के अच्छे हिन्दी पत्रकार हुए।

इस युग में पटना के नामी बैरिस्टर डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल की हिन्दी में शोध-सेवाएँ क्रोशशिलात्मक मूल्य की हैं। वह इतिहास और पुरातत्त्व के ठोस विद्वान् थे। पटना-संग्रहालय में अवस्थित 'काशीप्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान' से आज भी उनका नाम हिन्दी शोध-जगत में उजागर है। आरा के पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा विलक्षण प्रतिभा के लेखक थे। उन्होंने हिन्दी-जगत को आचार्य शिवपूजन सहाय जैसा अपना साहित्यिक शिष्य देकर पूर्णतः सनाथ कर दिया। उस यशस्वी साहित्यिक का कीर्ति-स्तम्भ अशोक-स्तम्भ की तरह सदा गर्वोन्नत रहेगा।

द्विवेदीयुगीन एतत्प्रकार के हिन्दी-साहित्य के उन्नायकों में पं. चन्द्रशेखर शास्त्री, पं. जगदीश्वरीप्रसाद ओझा और पं. रामदहिन मिश्र के नाम बड़े उज्ज्वल हैं। हिन्दी साहित्य के शास्त्रीय पक्ष को प्रबल-पुष्ट रूप में उपस्थित करने में मिश्र जी का प्रयास अनुपमेय है। बिहार में हिन्दी साहित्य की शास्त्रीय आलोचना का जहाँ तक प्रश्न है, आपका स्थान प्रसिद्ध संस्कृतालोचक आचार्य मम्मट की परम्परा में प्रतिष्ठेय है। इनके अतिरिक्त इस युग में और भी अनेक हिन्दी-लेखक हुए, जिन्होंने हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त काम किया। इनमें दामोदर सहाय 'कविकिंकर', पारसनाथ सिंह, पीर मुहम्मद मूनिस, नरेन्द्रनारायण सिंह, योगानन्द कुमार, देवेन्द्रकिशोर जैन आदि उल्लेखनीय सारस्वत विभूतियों में अग्रगण्य हैं। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि सुप्रसिद्ध हिन्दी-उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' के स्वनामधन्य लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता का आंशिक भागी बिहार भी है।

द्विवेदी-युग के बाद उन्नीसवीं शती के प्रथम-द्वितीय दशक से हिन्दी का अखण्ड प्रवाह बिहार के उर्वर साहित्य-क्षेत्र में और भी अतुल वेग से गतिशील हो उठा। परम्परा-पुष्ट बिहार की हिन्दी के समक्ष अब कोई गत्यवरोध नहीं रह गया था। बिहार के इस हिन्दी-युग को हम वर्तमान या आधुनिक युग कहने के साथ ही 'शिवपूजन-युग' भी कहेंगे। यह युग सर्वथा स्वतन्त्र रूप में, बहुत विस्तार में पल्लवित-पुष्पित, विकसित और फलित हुआ। 'शिवपूजनयुग' बिहार के ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी-संसार के लिए वह स्वर्णिम युग है, जिसमें एक-से-एक बिहारी लेखक, आलोचक, कवि, उपन्यासकार, नाटककार, अनुसन्धायक और गवेषक आविर्भूत हुए। अनेक बिहारेतर साहित्यकारों ने भी इस युग में पूर्णतः बिहारी होकर साहित्य की विभिन्न विधाओं को अपनी सारस्वत साधना से समृद्ध किया।

आचार्य शिवपूजन सहाय हिन्दी के वह दधीचि थे, जिन्होंने हिन्दी-माता की पूजा में अपनी हड्डियाँ रगड़-रगड़कर चन्दन चढ़ा दिया। आचार्य शिवजी, हिन्दी की

चलती-फिरती 'इन्साइक्लोपीडिया' थे। वह स्वयं साहित्यस्रष्टा होने के साथ ही साहित्यकारों के भी स्रष्टा रहे। उन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास 'देहाती दुनिया' की सर्जना की। इसी का नव्यतम विकास फणीश्वरनाथ रेणु का 'भैला आँचल' है, जिसने रेणुजी को आंचलिक उपन्यास के पुरोधे के रूप में सार्वभौम प्रतिष्ठा प्रदान की। आचार्य शिवजी हिन्दी-जगत् में सम्पादन-कला के अपने युगके एकमात्र मानदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। टकसाली भाषा के वह टकसाल थे। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् उनके ज्ञान एवं कर्मयोग का स्थापत्य-प्रतीक है। परिषद् द्वारा प्रकाशित 'शिवपूजन-रचनावली' के चारों भाग हिन्दी-संसार को आचार्य शिवजी के अमूल्य और सर्वस्वीकृत सारस्वत अवदान हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् और बिहार हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, ये दोनों बिहार की ऐसी हिन्दी-संस्थाएँ हैं, जिनसे बिहार में हिन्दी की अनवरुद्ध प्रगति की सूचना मिलती है। शिवपूजन-युग की प्रभावान्विति को अनालोचित एवं अनुगत भाव से स्वीकार करनेवाले उनके कतिपय स्वर्गप्रतिष्ठ समकालीन उत्तमश्लोक बिहारी हिन्दीसेवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। जैसे : स्वश्री देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, मथुराप्रसाद दीक्षित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', देवव्रत शास्त्री, छविनाथ पाण्डेय, नन्दकिशोर तिवारी, धर्मन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रो. नलिनविलोचन शर्मा, प्रो. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, प्रो. हरिमोहन झा, प्रो. विश्वनाथ प्रसाद, प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रो. केसरीकुमार, डॉ. देवसहाय त्रिवेद, भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, अनूपलाल मण्डल, नवलकिशोर गौड़ राधाकृष्ण, फणीश्वरनाथ 'रेणु', ब्रजशंकर वर्मा, उमानाथ, रामधारी सिंह 'दिनकर', मोहनलाल महतो वियोगी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रामदयाल पाण्डेय, रामेश्वरनाथ तिवारी, कामताप्रसाद सिंह 'काम', प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', आरसीप्रसाद सिंह, हंसकुमार तिवारी, कलक्टर सिंह केसरी, साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, उपेन्द्र महारथी, प्रो. योगेन्द्र मिश्र, शंकरदयाल सिंह आदि।

उक्त सभी यशस्वी साहित्यकार अपनी साधना से दीप्त कथाकार, आलोचक, उपन्यासकार, नाटककार, पत्रकार, कवि, गवेषक, विचारक, दार्शनिक तथा चिन्तक के ऊर्जस्वल व्यक्तित्व से विमण्डित थे, जिनकी महार्घकृतियों और अखण्ड वाङ्मय तप से हिन्दी-संसार अपरिचित नहीं है। इनके सारस्वत अवदान से हिन्दी दिनानुदिन प्रगति करती हुई राष्ट्रभाषा-पद की सहज अर्हता और तदनुक्रमशः विश्वभाषा बनने की क्षमता से सम्पन्न हुई।

## भाषा का व्यवहार और हिन्दी जनमानस

देवेन्द्र कुमार देवेश\*

अस्सी के दशक में जब मैं बिहार के एक छोटे से जिले कटिहार के एक आवासीय विद्यालय में माध्यमिक कक्षाओं का विद्यार्थी हुआ करता था, तो मैं अक्सर अपने विज्ञान शिक्षकों को कक्षा में यह कहते सुनता था कि विज्ञान की पढ़ाई के लिए भाषा उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, सिद्धांत और तथ्य सही होने चाहिए तुम्हारी भाषा ठीक नहीं भी है, तो भी तुम्हें पूरे अंक मिल जाएँगे।

आज जब मैं उनकी इस बात पर विचार करता हूँ और दूसरे मित्रों से चर्चा करता हूँ, तो पाता हूँ कि वह सोच सिर्फ मेरे विज्ञान शिक्षक की निजी सोच नहीं थी, वरन् प्रायः हिन्दीभाषी प्रदेशों के विज्ञान शिक्षकों का यही रवैया रहा है। यह रवैया इस बात का प्रमाण है कि भाषा के सवाल पर हम कितने असावधान और लापरवाह रहे हैं। भाषा का एक विद्यार्थी और लेखक-संपादक होने के नाते मैंने यह सदैव अनुभव किया है कि ज्ञान-विज्ञान अथवा भाव-संवेदना का कोई भी पक्ष हम बिना समुचित भाषा-प्रयोग के बोलकर अथवा लिखकर संप्रेषित नहीं कर सकते।

भाषा हमारी सोच, हमारे भाव, हमारी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है, लेकिन प्रायः यह देखने में आता है कि प्राथमिक स्तर पर परिवार, समाज तथा प्राथमिक कक्षाओं में जहाँ, हमें भाषा का आधारभूत ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए, वहाँ भी हम भाषायी अनुप्रयोगों की शिक्षा को लेकर सचेत नहीं हैं न शब्द-प्रयोग के स्तर पर, न उच्चारण के स्तर पर, न वर्तनी के स्तर पर और न ही व्याकरणिक शुद्धता के स्तर पर।

क्या हमारा रवैया हरेक भाषा के प्रति ऐसा ही है हिन्दीभाषी जनसमाज के संदर्भ में जब हम इस सवाल पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि हमारी मानसिकता दोहरी है। हमारी लापरवाही सिर्फ हिन्दी के प्रति है, अंग्रेजी के प्रति अथवा उन दूसरी भाषाओं के प्रति नहीं, जिन्हें हम सायास सीखना चाहते हैं।

\* देवेन्द्र कुमार देवेश, द्वारा/साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली 110001; फोन : 9868456153। दयालसिंह कॉलेज, नई दिल्ली के स्नातक (हिन्दी प्रतिष्ठा) के विद्यार्थियों के समक्ष हिन्दी दिवस, 2006 के अवसर पर दिए गए संभाषण का व्यवस्थित रूप।

आलम यह है कि भाषा की दक्षता प्राप्त करने के लिए हम जितना अंग्रेजी के मामले में सचेत हैं उतना ही हिन्दी के मामले में लापरवाह। हमें लगता है कि हिन्दी तो हम बचपन से बोल रहे हैं, और जिसे हम बोल-समझ रहे हैं, उसमें और सीखने को रह ही क्या गया है। वास्तव में हम हिन्दी सीखना ही नहीं चाहते। यहाँ तक कि प्रायः उसके व्यवहार में भी परहेज करते हैं।

यह बात मैं इस आधार पर कह रहा हूँ कि पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में प्रायः हिन्दी समाज की मानसिकता अंग्रेजीमय अथवा यह कहें, कि हिन्दी विरोधी हो गई है। गली-मोहल्लों में कुकुरमुते की तरह उग आए अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने का दावा करनेवाले निजी शिक्षा संस्थानों की बढ़ती जा रही संख्या इस बात की गवाह है। हिन्दी समाज का अधिसंख्य हिस्सा अपने बच्चों को इन अंग्रेजी स्कूलों में किसी भी कीमत पर पढ़ाने को लालायित है।

यह अंग्रेजी हमारी अपनी भाषा नहीं, हमारे परिवार-समाज की भाषा नहीं, लेकिन हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे इसमें दक्ष हों। और इसीलिए भाषा की दक्षता के लिए जितने भी उपाय जरूरी हैं, हम करते हैं, बच्चों से करवाते हैं। अंग्रेजी अक्षरों से, अंग्रेजी शब्दों से, अंग्रेजी वाक्यों से, अंग्रेजी उच्चारण की मानक शैलियों से और अंग्रेजी माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के अलावा अनिवार्य रूप से अंग्रेजी साहित्य से भी परिचित होने में हम गौरव का अनुभव करने लगे हैं।

परिणाम यह होता है कि एक ओर जहाँ हमारी अंग्रेजी शब्द-संपदा और संबंधित गतिविधियाँ बढ़ती जाती हैं, वहीं दूसरी ओर हिन्दी की शब्द-संपदा दो-ढाई सौ शब्दों तक सिमटकर रह जाती है तथा अभ्यास के अभाव में हम अंग्रेजी पर आश्रित हो जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी का समुचित व्यवहार करनेवाले लोगों को प्रायः ऐसे उद्गार सुनने को मिलते हैं/आप तो बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं/आप तो बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते हैं/आपकी हिन्दी तो बहुत कठिन है/आपकी हिन्दी हमें समझ में नहीं आती/हमें थोड़ी आसान हिन्दी में बतलाइए/फलाने शब्द की अंग्रेजी क्या है?

यह जो कठिन हिन्दी और आसान हिन्दी का सवाल है, यह जो अपरिचित हिन्दी शब्दों के लिए अंग्रेजी शब्द/पर्याय पूछे जाने का सवाल है यह हिन्दी जनमानस का भाषा के प्रति क्या व्यवहार है, इसे उजागर करता है। आप ऐसे कितने लोगों को जानते हैं, जो नया शब्द सुनने पर उसका अर्थ-प्रयोग कोश के माध्यम से जानना चाहते हैं? हिन्दी के संदर्भ में शायद हजार में एक व्यक्ति भी मिल जाए तो बड़ी बात है, लेकिन अंग्रेजी में तो हम कदम-कदम पर कोश देखने को तैयार बैठे रहते हैं।

कोई भी भाषा हो हिन्दी, अंग्रेजी या फिर कोई अन्य भाषा हरेक भाषा आपकी दक्षता के लिए आपसे ज्यादा-से-ज्यादा परिचय और अभ्यास खोजती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा एक अर्जित ज्ञान है। हम जिस भाषाभाषी परिवार में जन्म लेते हैं, उस भाषा को तो सहज ही सीख लेते हैं, क्योंकि हमें उसका परिवेश

और अभ्यास सुलभ होता है। अन्य भाषाओं को सीखने के लिए हमें विशेष प्रयास करने पड़ते हैं, जैसे हिन्दी समाज अंग्रेजी के लिए करता है। मैं कहना चाहता हूँ कि भाषा-ज्ञान का विशेष प्रयास हिन्दी के मामले में भी हमारे भीतर दिखना चाहिए। रूस के हिन्दी विद्वान प्रो. वारान्निक्वोव ने भी उन लोगों की भत्सर्ना की है, जो हिन्दी को सरल बनाने की बात करते हैं वास्तव में ये वे लोग हैं, जो हिन्दी से विशेष परिचय नहीं करना चाहते, क्योंकि परिचय बढ़ने मात्र से भाषा सरल हो उठती है।

ऐसा क्यों है कि जो भाषा हमें विरासत में मिली है, जिसकी एक सुदृढ़ परंपरा है, समृद्ध साहित्य है, वृहत्तर समाज हैयही नहीं, जो बोलचाल के स्तर पर तथा मुद्रण एवं इलेक्ट्रॉनिक दोनों ही माध्यमों से व्यापक रूप में प्रयोग भी की जा रही हैके प्रति हम इतने उदासीन हैं। यह सही है कि बोलियों, उपबोलियों तथा हिन्दी की विभिन्न शैलियों के रूप में सामाजिक स्तर पर अपने को हम प्रायः अभिव्यक्त कर लेते हैं और हमें जीवनभर किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, लेकिन शिक्षा के माध्यम के रूप में हम जिस भाषा को अपनाते हैं, जिस लिपि का प्रयोग करते हैं, उसका समुचित ज्ञान और अभ्यास क्या हमारी अनिवार्य जिम्मेदारी नहीं होनी चाहिए।

मैं अंग्रेजी या अन्य कोई भाषा सीखे जाने का विरोधी नहीं हूँ। एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान आज के समय की जरूरत हो गई है। संचार-क्रान्ति और यातायात की सुविधाओं ने मानव समाजों को एक-दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि अनेक भाषाओं को जानना हमारे संपर्क-व्यवहार के लिए अनिवार्य हो गया है। लेकिन भाषा विज्ञानियों द्वारा दुहराई जानेवाली यह बात हमें कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि मातृभाषा के आधार पर सीखी जानेवाली अन्य कोई भी भाषा हम तभी अच्छी तरह सीख सकते हैं, यदि हमें अपनी भाषा भी अच्छी तरह आती हो, अन्यथा भिन्न भाषिक परिवेश और समाज में रहकर ही हम उससे तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं।

लेकिन दुःखद बात यह है कि अंग्रेजी के प्रति अत्यधिक सचेत रहनेवाले हिन्दी समाज का अधिकांश अंग्रेजी में भी पर्याप्त दक्ष न हो सकने के लिए अभिशप्त है। हमारे पचास प्रतिशत शिक्षित समाज का पाँच प्रतिशत वर्ग यदि अच्छी हिन्दी बोल, लिख, पढ़, समझ सकता है, तो अंग्रेजी के मामले में यह एक-डेढ़ प्रतिशत भी नहीं है। अपने अत्यधिक अंग्रेजी-प्रेम के कारण हिन्दी समाज का बाकी का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी बोलकर ही गौरव का अनुभव कर रहा है। यहाँ शिक्षित वर्ग से मेरा आशय कम-से-कम दसवीं कक्षा उत्तीर्ण लोगों से है। शेष पचास प्रतिशत में से भी जो अर्द्ध-शिक्षित, साक्षर अथवा निरक्षर वर्ग है अंग्रेजी के प्रभाव से वह भी अछूता नहीं है।

हिन्दी समाज के शिक्षित वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा तो अनेकभाषी होने की अनिवार्य जरूरत को ध्यान में रखकर अंग्रेजी या अन्य कोई भाषा सीख रहा है, लेकिन

त्रासद स्थिति यह है कि हिन्दी समाज का अधिकांश अपनी भाषा की अवमानना कर, अपनी भाषा का तिरस्कार कर, अपनी भाषा को नकारकर, अपनी भाषा को त्याग कर अंग्रेजी की ओर उन्मुख है। यह प्रवृत्ति उसके लिए आत्मघाती सिद्ध हो रही है।

एक ओर हम जहाँ अपनी भाषायी बोली, उपबोली का आधार खो रहे हैं तथा भाषा की उपेक्षा कर भाषायी परिवेश और समाज में रहते हुए भी अपनी ही भाषा को अपने लिए कठिन और अव्यवहार्य पा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी परिवेश और समाज के अभाव में अंग्रेजी शब्द-संपदा का पर्याप्त परिचय प्राप्त करके भी हम उसके समुचित प्रयोग एवं विनियोग से वंचित रह जा रहे हैं।

चाहे कोई भाषा का विद्यार्थी है या नहीं, यह अलग बात हैलेकिन वह जिस भाषा समाज में रह रहा हैउस भाषा समाज की भाषा का समुचित प्रयोग उसके द्वारा अवश्य किया जाना चाहिए, यह उसका नैतिक दायित्व बनता है। बेशक आप दूसरी भाषाओं को भी सीखें, क्योंकि यह आपकी जरूरत है, आज की जरूरत है, विश्व-समाज की जरूरत है।

जिस तरह से एक परिवार-समाज में रहते हुए हम अनेक रिश्तों का भली-भाँति निर्वाह करते हैंभाई, बहन, माँ, पिता, दादा, दादी, नाना, नानी, चाचा, चाची, मौसा, मौसी, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि से लेकर शिक्षक, दोस्त, पड़ोसी, दुकानदार आदिलेकिन नया रिश्ता बनाकर भी पुराने को भुलाते नहीं, बल्कि पुराने रिश्ते को और भी जीवंत बनाए रखते हैं, उसी प्रकार जब हम नई भाषा सीखते हैं तो पूर्व परिचित भाषा, अपनी आधारभूत भाषा को बिसार देना हमारे लिए बुद्धिमानी की बात नहीं।

‘हिन्दी तो हमारी अपनी भाषा है, इसमें आखिर सीखने जैसा ही है क्या?’ तथा ‘हिन्दी की ढेर सारी शैलियाँ हैं, बोलियाँ-उपबोलियाँ हैं, जगह-जगह लोग अलग-अलग ढंग से बोलते हैं, इसलिए सबकुछ चलेगा’ जैसे दुराग्रह पालना भी बिलकुल उचित नहीं। हर प्रमुख भाषा की पचासों बोलियाँ, उपबोलियाँ और शैलियाँ होती हैं, लेकिन फिर भी उसका जो मानकीकृत रूप है वही शिक्षित समाज द्वारा ग्राह्य, व्यवहार्य और स्वीकार्य होता है। विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं सहित हिन्दी के संदर्भ में भी हमें इस तथ्य का खयाल रखना चाहिए।

## स्मृति-लोप से जुड़े प्रश्न

कुमार सौरभ 'तितीर्षु'\*

(1)

[मैं राम के धर्ममय रथ के बारे में लिख रहा हूँ। पहली बार 'सदा धर्ममय अस रथ जाके' शीर्षक से 1948 में लिखा था, लिखा क्या था, मेरे अग्रज पं. बदभद्र प्रसाद मिश्र ने यह लेख मुझ से लिखा लिया था।...तब गाँधी जी की चिन्ता की आग बुझ चुकी थी पर उस आहुति की आग अभी सिरायी नहीं थी। आज उस लेख को लिखे पैंतीस वर्ष हो गये। आज अस्वहीन लड़ाई वाले अप्रासंगिक हो गये और धर्म का रथ संशय के कुहासे में ऐसा घिर गया है कि वह दीखता ही नहीं। पुनः उस शीर्षक का उपयोग करते समय बहुत ग्लानि होती है, अपने ऊपर, अपने समाज के ऊपर और समझदारी के नशे में डूबे हुए हिन्दुस्तान के बुद्धिजीवी वर्ग के ऊपर।...एक और तीसरा मन है जो आजकल बहुत उदास रहता है, वह पहले ऐसा नहीं था, वह कुछ करना चाहता है, पर वह साहस नहीं जुटा पा रहा है कि जवाब दें, केवल और भीतर डूबता है और सोचता है कि विभीषण ने भी तो सन्देह प्रकट किया था।...आज के सन्देही विभीषण से उस विभीषण में एक अन्तर जरूर है, आज के विभीषण के मन में सन्देह प्रीतिवश नहीं उठता, वह उठता है बुद्धि के अपच के कारण।...आज का विभीषण राम से एकदम उदासीन है, वह धर्म से उदासीन है, उस ने उसे अनुवाद बना कर धर्म का अर्थ ही घटा दिया है। उसे हार-जीत से अब कुछ लेना-देना नहीं, उसे प्रश्न कर के यह जतलाना है कि मैं कितना समझदार हूँ, मैं कितना अपने देश से निरपेक्ष रह कर, अपनी संस्कृति से निरपेक्ष रह कर लम्बी-लम्बी बात कर सकता हूँ। इस विभीषण को उत्तर देने का उत्साह नहीं होता क्यों कि उत्तर तो है पर उस उत्तर को ग्रहण करने वाला नहीं है, क्यों कि वह उत्तर पाना नहीं चाहता, वह प्रश्न छोड़कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। वह सिद्ध करना चाहता है कि सब मूल्ये ढह गये, सत्यशील ढोंग हो गये, अब न जीत का महत्व है, न हार का, यह जीवन न-कुछ है, व्यर्थ है...यह जानते हुए भी उत्तर दिए बिना रहा नहीं जाता, क्योंकि व्यर्थता की चुनौती सही नहीं जाती।]¹

विद्यानिवास मिश्र

\* कुमार सौरभ, 'तितीर्षु' सी22/2, डी. आर. डी. ओ. टाउनशिप, कन्चनबारा, हैदराबाद500058।

पण्डित विद्यानिवास मिश्र का लेखन हमारी हिन्दी के इस पीढ़ी के लेखकों और पाठकों के लिए एक विशेष अर्थ में अजनबी है। वह यह कि वे बार-बार एक ऐसी दुनिया के बारे में बताते हैं जो इस पीढ़ी के लिए अपरिचित है और जिसे हमारी पूर्ववर्ती पीढ़ी ने अपरिचित बन जाने दिया है। उस अपरिचित दुनिया के बारे में बताना ही उन के लेखन को भी अजनबी बना देता है। और यह बताने के क्रम में वे एक चुनौती का उत्तर देने के लिए बार-बार उत्कट हो कर आगे आते हैं। इस चुनौती देने के क्रम में वे एक अद्भुत कौशल भी कर जाते हैं। अपने निबन्ध में वे कहते हैं "भला चर्खा क्या स्वराज्य लेगा, पर चर्खे का तार न टूटे, चर्खा चालू रहे"।² जब तक हम नहीं जानते कि वह लोक कितना अमूल्य था जो हम से छिन चुका है इस नये जीवन-वितण्डे में, तब तक हमें विजयदेवनारायण साही की इस कविता का अर्थ समझ में नहीं आता :

विश्वास करो,  
यह सिर्फ तुम्हारा दोष नहीं  
यह नहीं कि तुम्हारी किस्मत झूठी थी  
यह नहीं कि केवल तुम से चूक हुई :  
उस पर्वत का जादू ही ऐसा होता है,  
हम सब ने उस मद्दहोशी में  
नकली सचाई के बदले अनमोल सितारे बेच दिये।³

क्योंकि हमें अपनी वर्तमान सचाई के नकली होने तथा बेच दिये गये अनमोल सितारों का पता ही नहीं है। हम उस दौर में पैदा हुए जब गाँवों का वल्गाराइजेशन अपने चरम पर था, वहाँ पले जहाँ न हमारा कुल था और न कुलभाषा की आहटेंमाता-पिता ने ही बलात् हमें अपनी कुलभाषा से अलग किया, हम ने उस विधि से शिक्षा पायी जिस में हिन्दी को सरकारी दबाव में पढ़ना था और वह भी इस बोध के साथ कि हिन्दी पढ़ना बेकार है क्योंकि इससे नौकरी तो मिलनी नहीं है, जब साहित्य पढ़ाया गया तो यह बताते हुए कि कालिदास बस संस्कृत के शेक्सपियर हैं तथा पन्त कीट्स या शेली हैं; पाणिनी, शंकराचार्य या अरविन्द तो बेकार तथा अप्रासंगिक मान लिये गये थे, अतः इन के बारे में बताने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी, हाँ सुकरात, अरस्तू, मार्क्स आदि बड़ी काम की चीज थे। ऐसे में हमें कोई बताने वाला था ही नहीं कि हमारा क्या ऐसा खो गया जिसे हम नहीं जानते। पिछले पचास सालों का लेखन देखने पर पता चलता है कि किसी अन्य ने सकर्मक ढंग से यह बताने का प्रयास नहीं किया कि वह यही हमारा लोक था, जहाँ हम अब नहीं रहते और हम अब जहाँ रहते हैं, वह अँधेरा बन्द कमरा है जिस का निर्माण आधुनिकता नामक भूत ने किया है। इस अँधेरे कमरे का संकेत पूरे आधुनिक कहे जाने वाले हिन्दी साहित्य में मिलता है, अज्ञेय से ले कर निर्मल वर्मा, रमेश चन्द्र

शाह प्रभूति सभी आधिकारिक हिन्दी साहित्यकारों के लेखन में उस की समझ प्रभूत मिलती है, परन्तु हमें यह पता नहीं चलता कि वह कौन सी धरणी थी जिस की मिट्टी काट-काट कर इस कमरे का निर्माण किया गया, वह कैसा आकाश है जिस का प्रकाश अब हम तक नहीं पहुँच पा रहा है। यह विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध ही हैं जो हमें बताते हैं कि यह लोक की ही धरणी है और लोक का ही वितान है जिस से हमें बलात् वंचित किया गया है। नागार्जुन आदियों की, जिन्होंने ग्रामीण परिवेश पर कथोपन्यासादि लिखा है, उन की बात हम नहीं कर सकते हैं, वैसा लेखन एकदम निष्प्राण है, क्योंकि न तो उसमें टकराहट है, न ओज और न ही समय की सम्यक् समझ।

हमारी पीढ़ी अशोक के पेड़ को नहीं पहचानती, क्योंकि बालसुलभ कौतूहल से पूछने पर इसे यह तो बताया गया कि यह अशोक का पेड़ है, परन्तु यह बताने में इस की बुराई समझी गयी कि इस पेड़ अशोक के अशोक कहने का रहस्य क्या है। इन निबन्धों को पढ़ने के बाद पहली बार हमें पता चलता है कि वह क्या है जो अज्ञेय और निराला की कविताओं में प्रभूत मात्रा में है, शाह जी की कविताओं में अपेक्षतया कम मात्रा में है और दूसरे बड़े कवियों यथा श्रीकान्त वर्मा और अशोक वाजपेयी में लगभग नहीं है। इन निबन्धों को पढ़ने के बाद ही हम स्पष्टता से पहचान पाते हैं कि निर्मल वर्मा और रमेश चन्द्र शाह किस फाँक की बात बार-बार कर रहे हैं और यह बात क्यों की जानी चाहिए तथा वह कौन सी चीज है जिसे यह लगातार चौड़ी होती जा रही फाँक हमारी दृष्टि से ओझल करती जा रही है। मैं मिथ्या नहीं हूँ यदि मैं कहूँ कि हमारा आज का हिन्दी साहित्य जिसे हम मात्र यूरोपीय कथनी की तर्ज पर आधुनिक और उत्तराधुनिक आदि विशेषणों से लादते हैं, उस का भी एक प्रमुख कर्म यही रहा है कि उस लगातार ओझल होती जा रही चीज से आँखें चुराता रहे। मेरे लिए रेणु के उपन्यास तभी सम्प्रेष्य हो सके जब मैंने उस लोक के चित्त की बानगी पा ली जहाँ रेणु का चित्त रमता था। और आने वाली पीढ़ी के लिए मुंशी प्रेमचन्द का उत्कृष्ट कथा-संसार भी अगम्य हो जायेगा, रेणु के अद्भुत ध्वन्यात्मक संसार की बात ही छोड़िए, क्योंकि गाँवों की वह भूमि ही नेत्रलुप्त है। तो मेरे लिए, मेरी इस पीढ़ी के लिए पण्डित विद्यानिवास मिश्र का लेखन एक ऐसी कुन्जी है जिस के बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य के दर्दों, विश्वासों, आत्मछलनाओं तथा मिथ्याभिमानों को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता है। और इस नाते उन का लेखन आधुनिक हिन्दी साहित्य की कुछ सर्वाधिक मूल्यवान धरोहरों में से एक है।

हमारे लिए उनके लेखन को पढ़ना एक द्विविध अनुभव से भरा होता है। हम जहाँ उस अद्भुत और रम्य लोक की छवि पा कर मुग्ध होते हैं, वहीं एक डर भी हमें दबोच लेता है। हम स्वयं को एक ऐसी जगह पाते हैं, जहाँ थपकियाँ देने वाला कोई नहीं, गुनगुना कर दर्द की दवा बनाने वाला कोई नहीं, कोई हाथ थाम कर पानी देने

वाला नहीं, क्योंकि इस लेखन की चिन्ताओं को पढ़कर हम जान जाते हैं हमारा घर छिन चुका है और हम ने उसे छिन जाने दिया है हम बेघर हो चुके हैं। आखिर हमारी आधुनिकता ने तो सब से पहले यही किया है न कि हमें बेघर कर दिया है। यानि इन निबन्धों से पता चलता है कि हम घर के नहीं रह गये, जहाँ हम रह गये हैं, वहाँ हमारा घर नहीं है।

## (2)

“वागीश शुक्ल का लेखन हिन्दी आलोचना के दरवाजे पर सर्वथा अजनबी की दस्तक है।...पर यह पेगन अब हमारा और हमारी आलोचना (दृष्टि/देखने) का भी न यथार्थ है न आदर्श। अब भिन्न होना अनिवार्यतः अजनबी होना है, दूषण की सम्भावना से युक्त अजनबी।

अजनबी वह अनेक अर्थों में है। प्रथमतः और प्रथम-द्रष्टतया तो इसी अर्थ में कि जो प्रश्न, चिन्ताएँ, उत्प्रेरणाएँ आदि ‘आधुनिक’ हिन्दी लेखन में कार्यरत रही हैं, जो इस लेखन को ‘आधुनिक’ बनाती हैं, उन्हें वागीश शुक्ल के लेखन के यहाँ हाशिये पर भी जगह प्राप्त नहीं है। और न ही उन प्रत्ययों, पदों, सन्दर्भों, मुहावरों, विचारों, विवादों, पाठों, किस्सों, चरित्रों आदि को जिनमें हिन्दी का आधुनिक परिदृश्य साझा करता है। दूसरे इस अर्थ में कि वह ऐसे परिदृश्य में लगभग ऐकान्तिक रूप से पाठीयपाठकेन्द्रीय, पाठमूलक, पाठप्रवणलेखन है जहाँ हमारी आलोचना अपना आश्रय और अधिप्रामाण्य पाठेतर तथ्यों, भावात्मक-वैचारिक अमूर्तनों में तलाशती हुई पाठ से उत्तरोत्तर अपसरण करती गयी है।”<sup>5</sup>

और आगे भी अपनी भूमिका में मदन सोनी वागीश शुक्ल के लेखन की बड़ी मार्मिक पहचान कराते हैं। क्या यह सही नहीं है कि पेगन जिसे वागीश शुक्ल बार-बार उद्धृत करते हैं साहित्य मात्र के पहचान के तौर पर अभी भी हमारा यथार्थ है। निश्चय ही है। एक हद तक हमारे ‘आधुनिक’ हिन्दी रचनात्मक लेखन का भी है ही और हमारी हिन्दी आलोचना (दृष्टि/देखने) का भले न हो। भारतीय जन और चोटी के साहित्य-सर्जक भी पेगन ही रहे हैं, आप किसी को भी लीजिए, ददा, प्रसाद, निराला, अज्ञेय से लेकर विनोद शुक्ल तक, सभी पूरे-पूरे पेगन रहे हैं और इसलिए हमारे रचनात्मक लेखन का एक बड़ा अंश ऊर्जस्वी रहा है। लेकिन यही बात उच्चवर्गीय भारतीय तथा भारतीय आलोचना के लिए कहनी मुश्किल है। उन का कितना अंश भारतीय है, यही बड़ा सवाल हो सकता है। भारतीय जन तो भारतीय रहा है, भारतीय रचना-संसार का एक अंश भी सर्जनात्मक तौर पर भारतीय मनःस्थिति का ही आख्यान रहा है परन्तु इधर के तमाम भारतीय आलोचकों को उन रचनाओं को समझने की तमीज भारतीयतर लोक से ही पाने में अपना निस्तार लगा। यह एक पराये कसाईघर में रचना की निर्मम हत्या करने का षडयन्त्र है। इसलिए भारतीय

काव्यमीमांसीय परम्परा और उस के सहज आलोक से उनके लिए कोई रचनात्मक संवाद सम्भव नह हुआ और परिणाम के तौर पर आज काव्य को परखने की सारी कसौटियाँ काव्येतर ही लागू की जाती हैं। लेकिन यह प्रश्न भी हमारे रचनाकारों के मन में एक दूसरे रूप में बना रहा और अपनी पूरी प्रासंगिकता के साथ। अगर यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं होता तो हम भारतीय रचना-जगत तथा भारतीय जन-मन के बीच की फाँक का प्रश्न ही उठता हुआ नहीं पाते। हुआ यही है कि हमारा जन व्यक्तित्व तो पेगन रहा है और इसलिए रचनात्मक लेखन का बड़ा अंश भी, परन्तु हमारा आज का आलोचनात्मक कहा जाने वाला लेखन ऐसा होने से इन्कार करता है, और यदि आज के सन्दर्भ में पेगन का सब से अच्छा समानार्थी शब्द भारतीय है तो मुझे कहना चाहिए हमारा आज का यह हिन्दी आलोचनात्मक लेखन एक नितान्त भारतीय व्यक्तित्व होने से परहेज करता है। अज्ञेय की कविता यहाँ मुझे सबसे अधिक प्रासंगिक लगती है,

पर हमारे शब्द  
जनता के नहीं थे  
क्योंकि जो उन्मेष हम में हुआ  
जनता का नहीं था,  
संवेदना ने ही विलग कर दी  
हमारी अनुभूति हम से।  
यह जो लीक हम को मिली थी  
अन्धी गली थी।<sup>6</sup>

पिछले सौ सालों से अधिक का हिन्दी-लेखन हमारे सामने है और हम पाते हैं कि अपनी पारम्परिक सम्पत्ति का हमने तनिक भी सृजनात्मक उपयोग नहीं किया है। अवश्य चेष्टा हुई है ऐसे प्रयोगों की लेकिन वे सभी रस-सिद्धान्त तथा भारतीय काव्यशास्त्र पर लिखी गयी आजकल की पुस्तकों तथा कतिपय विविध भारतीय लेखकों के रामायणमहाभारताद्याधारित उपन्यासों की तरह दूसरी श्रेणी के ही हैं। इस सिलसिले में मुझे रमेश चन्द्र शाह जी की एक बात याद आ रही है जो उन्होंने अपने किसी निबन्ध में कही है और जिस का आशय है कि क्या हमारी पारम्परिक और सर्वोच्च कोटि की उपलब्धियों के भाग्य में आज के द्वितीय श्रेणी की रचनात्मकता वाले लोगों के हिस्से में आना ही लिखा है। मैंने कामायनी तथा प्रसाद-निरालादि की कविताओं पर लिखी गयी टीकाओं का अध्ययन किया है। प्रत्येक को पढ़ने के बाद मेरे मुख से यही निकला कि ये इतना अरचनात्मक क्यों लिखते हैं जब कि किसी प्राचीन टीकाकार के लिए मैं ऐसा नहीं कह सकता। मैं जब भी पढ़ता हूँ प्राचीन टीकाकारों की टीकाओं को, तो वे तो अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक लगती हैं। यद्यपि रामचरितमानस पर लिखे गये इधर के निबन्धों यथा 'तुलसी के हिय हेरी',

नाम-निरुपण और नाम-जतन का कवि'<sup>8</sup> आदि को भी पढ़ने पर कुछ तोष मिलता है परन्तु वर्तमान समय में भी तुलसी और रामचरितमानस पर उनकी ही रचनाएँ अधिक मर्मभेदी लगती हैं जो धुर परम्परावादी माने जाते हैं। निराला की ही कविता 'राम की शक्तिपूजा' को लीजिए। जब मैंने उस की पहले-पहल व्याख्याएँ पढ़ी थी, पहले नन्दकिशोर नवल के द्वारा और बाद में रामविलास शर्मा की, तब मैंने यही सोचा कि यह काव्य क्या, कोई भी सम्यक् काव्य इस भूमि पर खड़ा नहीं हो सकता। तो आलम यह है कि एक आधुनिक कवि के द्वारा भारत के जन-मन में बसी कथा पर लिखी कविताएँ भी हमारे इन आधुनिक दृष्टिसम्पन्न कहे जाने वाले आलोचकों द्वारा अपपाठ का शिकार होती रही हैं। जबकि निराला की ही अन्य कई कविताएँ जो अध्यात्म की भूमि पर स्थित नहीं हैं, उन के साथ यह बात इतनी अधिक तीव्रता के साथ महसूस नहीं होती हमें। और रमेश चन्द्र शाह यह सही लक्षित करते हैं कि 'निराला-काव्य के पीछे जो सब से बड़ी प्रेरणा है भक्ति की, आध्यात्मिक संवेदना की जो एकदम आरम्भ का गीतियों से लेकर अन्त तक बराबर देखी जा सकती है, उसे भी न केवल नजरअन्दाज करने की वरन् एक अपव्याख्या में घटा कर झुठलाने की कोशिश साहित्यिकों के ही एक समुदाय में बराबर देखी जा सकती है।'<sup>9</sup> तो क्या ठीक यही स्थिति नहीं है कि आधुनिक दृष्टिसम्पन्न कहे जाने वाले हमारे इन आलोचकों के द्वारा अव्याख्येय हो जाती हैं। ऐसे ही समय में मैंने वागीश शुक्ल की पुस्तक 'छन्द छन्द पर कुङ्कुम' पढ़ी थी। कविता की भूमि पर जा कर उससे संवाद करने की चेष्टा क्या होती है, इसका साक्षात्कार पहली बार इतने विराट स्तर हुआ था। कविता को उस की सजातीय कविताओं से जोड़ना और वह भी एक-दो नहीं वरन् अनगिनत कविताओं से, क्या होता है यह पहली बार अनुभव में आया था। 'है अभी कुछ और जो कहा नहीं गया' मानो स्वयं को मेरे सामने प्रत्यक्ष कर रहा हो। उस पुस्तक को पढ़ने का अनुभव मेरे लिए एक अद्भुत संसार से गुजरने के रोमांच के समान था। कुँवर नारायण सत्य ही कहते हैं 'इस तरह का अध्ययन और चिन्तनशील शास्त्रीय समीक्षा अब लगभग दुर्लभ होती जा रही है'<sup>10</sup>

आप 'असाध्य वीणा' को ही लीजिए। क्या इस पर आप को कोई सन्तोषप्रद आलेख मिला है विद्यानिवास मिश्र द्वारा लिखित एक आलेख को छोड़कर। यहाँ तक कि जो अज्ञेय के सहृदय आलोचक हैं जैसे रमेश शाह और नन्दकिशोर आचार्य आदि, इन लोगों ने भी 'असाध्य वीणा' पर कुछ लिखने से दूर ही रखा है स्वयं को। कारण मेरी समझ से परे है सिवाय इसके कि ये लोग कदाचित इस कविता को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। नन्दकिशोर नवल अपने एक लेख में इसका एक कारण मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता का 'असाध्य वीणा' के तुरंत बाद प्रकाशित होना बताते हैं। यह बात गलत है। यह फिल्म के रिलीज होने वाली हालत नहीं है कि एक मल्टीस्टार सुपरहिट फिल्म के रिलीज होने के समय पर ही रिलीज होने वाली अन्य फिल्में पिट

जाती हैं। कारण निश्चित ही 'अंधेरे में' की बहुप्रचारित श्रेष्ठता नहीं हो सकती है। वे एक दूसरा कारण भी बताते हैं, वह यह कि 'असाध्य वीणा' एक रहस्यवादी कविता है। यह 'रहस्यवादी' की संज्ञा देना ही खोखली मानसिकता का परिचायक है और सच तो यह है कि यदि हम वागीश शुक्ल जी की साक्षी लें तो सारे 'रहस्य कविता में ही कहे जा सकते हैं'।<sup>11</sup> दूसरी तरफ शाह जी ने 'असाध्य वीणा' तथा कुँवर नारायण की 'आत्मजयी' के ऊपर जो कुछ लिखा है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इन कविताओं को इन कवियों द्वारा आधुनिक स्थितियों से पलायन का परिणाम ही मानते हैं।<sup>12</sup> स्वयं रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे दिग्गज आलोचक जो अज्ञेय के सहृदय आलोचक भी हैं, उन्होंने जो कुछ 'असाध्य वीणा' पर लिखा है वह हमें कुछ भी आश्चर्य करता है क्या? आप शाह जी की पुस्तक 'अज्ञेय : वागर्थ का वैभव'<sup>13</sup> को ही लीजिए। निस्सन्देह अज्ञेय ही रचनाओं के पीछे की जो आधुनिक आदि भूमियाँ हैं, स्वातन्त्र्य की जो ऊर्जा है और नये रास्तों के खोज की जो ललक है, उसके विवेचन में यह पुस्तक पूर्णतया सफल है और इस दृष्टिकोण से यह पुस्तक बेजोड़ है तथा लेखन में एक नया आयाम जान पड़ती है। लेकिन, ठीक यहीं पर हम ठिठक जाते हैं। क्योंकि यदि सिर्फ यही पृष्ठभूमि ध्यान में रखी जाय तो एक उत्कृष्ट कविता और एक निबन्ध में क्या अन्तर रह जायेगा? वह चीज तो रहती ही है जो काव्य-कला कहलाती है! आखिर कला ही तो है जो काव्य की निर्मिति करती है। लेकिन तब उसकी ओर से ये लोग इतना मौन क्यों रहते हैं?

आप शाह जी की ही 'छायावाद की प्रासंगिकता' नामक पुस्तक लीजिए। कितनी उन्मुक्त है यह पुस्तक! कितने उन्मुक्त ढंग से इसमें प्रसाद-पन्त-निराला-महादेवी की काव्यकला से साक्षात्कार की चेष्टा की गयी है! आप इसके निष्कर्षों से सहमत हों या न हों, यह पुस्तक एक आलोड़न है। लेकिन ऐसा उन्मुक्त भाव अन्यत्र तो देखने में नहीं आता। कला से इस तरह साक्षात्कार की चेष्टा स्वयं उनमें ही अन्यत्र नहीं दिखती। अब इसे क्या कहा जाय! जबकि उपरोद्धृत अपसरण की प्रवृत्तियों के बरअक्स वागीश शुक्ल का लेखन शब्द की गवाही शब्द से ही लेता है और साहित्य को समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक और उपकरण या अन्य उपकरणों का गरीब विरादर मानने से इन्कार करता है तथा स्पष्ट यह घोषणा करता है कि कविता से हमें कविता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। एक दूसरा उदाहरण मैं देता हूँ, 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' विषय पर लिखी गयी पुस्तकों का। बहुतेरी पुस्तकें तो ऐसी मिलेंगी जो आप को साहित्यकार के साहित्य की पहचान नहीं करवाएँगी और उनको समाजसुधारक, समाजविरोधी, दलितोद्धारक, वर्णाश्रमपोषी आदि उपाधियाँ देने में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान लेंगी। दूसरी ओर आप देखिये इस विषय पर लिखी गयी विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का पुनरावलोकन'<sup>14</sup>। 'हिन्दी साहित्य का पुनरावलोकन' हिन्दी साहित्य की विभिन्न कालखण्डों का प्रवृत्तियों पर

लिखी गयी सब से लघ्वाकार पुस्तक है। लेकिन तात्कालिक साहित्य की संवेदनशीलता से जितनी अच्छी तरह हमारा साक्षात्कार इस पुस्तक में होता है, अन्यत्र नहीं।

लेकिन हमारी पीढ़ी के लिए वागीश शुक्ल का लेखन एक अन्य कारण से भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है। वह यह कि हमारी इस पीढ़ी को पहली बार कोई बताता है कि हमारे लिए हमारी वाङ्मय-पीठिका सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उसमें वाल्मीकि, तुलसी तथा कबीर आदि हैं वरन् इसलिए भी अस्तित्ववान है क्योंकि उसके पास भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि की एक भरी-पूरी काव्य-निदर्शन परम्परा है : हमारा संस्कृत-साहित्य-संसार (जिसे भुलाने और दफन करने की राजनीतिक स्तर पर हरसम्भव कोशिशें जारी हैं, भारतीय शासक-वर्ग के द्वारा भी और हिन्दी के साहित्यकार-वर्ग द्वारा भी। सामन्ती और मृत तो उसे कब का घोषित और सिद्ध किया जा चुका है।) हमारे लिए मात्र इसलिए अर्थवान नहीं है कि उसमें रामायण, महाभारतादि रचे गये हैं, बल्कि इसलिए भी कि उसमें विष्णुसहस्रनाम, शिवसूत्र आदि रचे गये हैं और उसमें अनवरत टीकाएँ लिखने की परम्परा है। पहली बार हमें पता चलता है कि साहित्य की भूमि दर्शन, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि की भूमि को सम्यक् रूप से आत्मसात् करती हुई ही बनती है, और हमें यह समझ में नहीं आता है कि क्यों एक प्राचीन काव्यशास्त्री आचार्य के लिए काव्यशास्त्र के निदर्शन में वैयाकरणों और नैयायिकों आदि की बातें करनी आवश्यक है। सचमुच, साहित्य की ऐसी घनिष्ठ और संश्लिष्ट भूमि से हमें वंचित रखा गया है।

हम भारतीय साहित्य और अभारतीय साहित्य के बीच के अन्तर के एक बड़े सूत्र को पहचान पाते हैं जब वागीश जी अपने निबन्ध 'कथा श्रृणोति...इन्द्रः? (क्या इन्द्र कथा सुनता है?)'<sup>15</sup> में यूरोपीय तर्ज पर किये गये आक्षेपों, कि भारतीय साहित्य में ट्रेजेडी का अभाव है, का उत्तर देते हैं। भारतीय साहित्य की एक और स्पष्ट पहचान हमारे सामने तब उभरती है जब वे विनिगमना और विनिगमना विरह की बात करते हैं।<sup>16</sup> अपने इसी लेख के अन्त में वे साहित्यिक दुर्योधनवाद की बात करते हैं। इसे पढ़ने के बाद लगता है कि यह साहित्यिक दुर्योधनवाद ही है जो हिन्दी रचना-जगत में सर्वाधिक सम्मानित है। वागीश जी के लेखों में रचना-जगत् के सन्दर्भ एक अद्भुत लाघव के साथ खुलते जाते हैं। हमारी इस पीढ़ी के सामने रचनात्मक स्तर पर पहली बार यह खुलता है कि वे कसौटियाँ तथा वे मीमांसाएँ आज भी प्रासंगिक हैं, जो हमारी पारम्परिक मनीषा ने रचे थे। अन्यथा सच मानिए कि ऐसा कोई जाग्रत अनुभव हमें नहीं था। जॉक देरिदा के डिकंस्ट्रक्शन की चर्चा बहुत आम है इस पीढ़ी के लिए लेकिन रस-मीमांसा की प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता को समझने की जरूरत यदि हमारी पीढ़ी को महसूस नहीं हुई है तो सिर्फ इस कारण कि इस रस-मीमांसा को हिन्दी साहित्यकारों और आलोचकों के द्वारा बहुत पहले से ही ऐसी चीज माना जा चुका है जो बेकार है और जिस के बारे में बातें करना बेकारी को बढ़ावा देना है।

यहाँ मैं मानता हूँ कि हिन्दी आलोचनात्मक लेखन की हालत हमारे भारतीय समाज से अलग नहीं है। हमारी वर्तमान हालत देखिए, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यूरोपीय और अब अमरीकी संक्रमण इस कदर हावी है कि बीस-पचास साल बाद की पीढ़ी को पता भी नहीं चलेगा कि कुछ दूसरी चीजें भी थीं जो इस समाज द्वारा बरती जाती थीं। चाहे वे सम्बोधन के शब्द हों या पहनावा, चाहे अध्ययन-तन्त्र हो, संविधान या कोई भी व्यवस्था, हमने बिना अपने संसाधनों की पड़ताल किये उन्हें छोड़े तथा यूरोपादि के अन्धाधुन्ध अनुशरण में ही भलाई समझी है। ऐसी स्थिति में यही क्या कम है कि ऐसा भी वर्ग भारत में बसता है जो भले ही कुछ आदत और कुछ लाचारीवश जीते हुए अँगरेजीपदुओं की अँगरेजी आदतें अपनाता जा रहा है, लेकिन कुछ कर्मकाण्ड के स्तर पर संस्कार अभी भी पकड़े हुए हैं और यह याद कराना चाहिए कि इस वर्ग को नष्ट करने के सभी सम्भव प्रयास किये जा रहे हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि क्या यही नहीं किया है, हमारे आधुनिक हिन्दी लेखन ने, विशेषतया आलाचनात्मक लेखन ने। वह दावा और ढोंग तो आलोचन करने का करती रही है (लोच धातु का मतलब देखना होता है और लोचन का अर्थ है आँख), परन्तु हमेशा रचना से आँखें चुरा कर उस पर अपने दुराग्रह थोपने का ही काम करती रही है। वस्तुतः भारत का शासक वर्ग हो या उच्च वर्ग या हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक कहा जाने वाला लेखन ये सभी बहुत पहले ही भारतीय कसौटियों को तिलांजलि दे चुके थे। और दोनों ही अपने इस कार्य को अत्यावश्यक मानते हुए परिस्थितिजन्य कहते नहीं थकते हैं। लेकिन अभी यह निर्धारित किया जाना शेष है कि स्वयं उन के बदले हुए आचरण ने कितना अधिक योगदान दिया है परिस्थितियों को बदलने में। और यह तय करने का साहस उन वर्गों में नहीं है, यह सिद्ध हो चुका है।

मुझे निर्मल वर्मा पर लिखा हुआ एक निबन्ध याद आ रहा है, जिस का उल्लेख अस्थाने न होगा। वहाँ प्रसेनजित गुप्त कहते हैं 'अँगरेजी साहित्य की पश्चिमी परम्परा के भीतर भारतीय (जैसे कि हिन्दी) साहित्य के अँगरेजी अनुवाद और इस तरह व्यापक रूप से भारतीय साहित्य मात्रको समाविष्ट करने के लोभ का संवरण करना बहुत जरूरी है'।<sup>17</sup> मैं कहूँगा कि यह बात फिर से उठायी जानी चाहिए और एक प्रश्न की तरह। अन्ततः हम यह जानना चाहेंगे कि भारतीय मीमांसा की प्रणालियों को रचनात्मक स्तर पर रखने-परखने के प्रयत्न कितने किये गये हैं हमारे द्वारा। हम जानना चाहेंगे कि क्या इस 'आधुनिक' कहे जाने को छटपटाने वाले वर्तमान भारत ने विश्व अर्थात् समग्र के प्रति रचनात्मक स्तर पर कौन से उत्तरदायित्वों का अनुभव किया है और उनके संवहन का प्रण साधे हुए है, या फिर यहाँ भी जो यूरोप और अमरीका में कहा जा रहा है, उसका पिष्टपेषण मात्र हो रहा है। लेकिन नयी पीढ़ी शायद यह प्रश्न नहीं पूछे अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों से तथा स्वयं से। क्योंकि

उसे यह बताया ही नहीं गया है कि मनमाने तौर पर अकृत्य घोषित किये जा चुके कर्मकाण्डों के अतिरिक्त कुछ और भी है जो उसने अपनी परम्परा से पाया है। उसे यह कहाँ बताया गया कि भारत ही ऐसा देश है जहाँ शंकराचार्य जैसा व्यक्ति जन्म ले सकता है जो एक साथ ही घोर दार्शनिक और महाकवि हो, वरन् उसके सामने शंकराचार्य को एक अछूत नाम की तरह ही बरता गया। ऐसे में वागीश शुक्ल का लेखन निश्चित ही एक ऐसा लेखन है जो बिना किसी पूर्वग्रह के हमें यह बताता है कि हमारी पीठिका क्या है और यह क्यों आज भी सर्जनात्मक हो सकती है।

और यह जानकर हम दोहरे स्तर पर आशंकित हो जाते हैं। हमें पता चलता है कि हमारा शास्त्र लुट चुका है और हमने उसे लुट जाने दिया है। हम जान पाते हैं कि हम अपनी प्रत्येक विरासत को सरकार के हवाले छोड़ने के आदि हो चुके हैं ताकि वह उन सब को कुछ पन्नों में छपवाकर संग्रहालयों के हवाले करती रहे और हम अन्ततः उन सबसे आजकल के समय की माँग का बहाना बनाकर पल्ला झाड़ते रहे। हम यह समझ पाते हैं कि हमारा वह घाट जहाँ पर बैठ पर हम एक सुरसरि में अपना सारा मैल अर्पित कर साधना करते रहे हैं, नष्ट किया जा चुका है। यही नहीं हम यह भी देख पाते हैं कि अपने तोड़े जा चुके घर से इस घाट के रास्तों पर ऐसी कँटीली झाड़ियाँ उग आयी हैं जिसने हमारी आत्मा को लहलुहान कर दिया है। हम यह भी देख पाते हैं कि हमारे उधार के घर में, जहाँ हम रहते हैं आजकल, उस घाट की कोई स्मृति नहीं है और कोई ऐसा सूत्र नहीं जिससे उस घाट और उन रास्तों का पता भी चल सके।

### (3)

हम इस सचाई से मुँह नहीं मोड़ सकते कि इस पीढ़ी के समक्ष साहित्य की बड़ी एकांकी पहचान बनायी गयी है। अतः हमारी इस पीढ़ी में आधुनिक हिन्दी साहित्य का जो सर्वाधिक सशक्त हिस्सा है उसे पढ़ पाने में पर्याप्त अक्षमता और अरुचि है। और हिन्दी के साहित्यकारों ने ही इस पीढ़ी को साहित्य को बेचारी वाली नजरों से ही देखना तथा पूर्वाग्रहों के पिष्टपेषण को साहित्य मानकर चलना सिखाया है। किसी भी सघन लेखन के बारे में हमें यह बताया गया है कि यह लेखन बोझिल और पण्डिताऊ है। हमें यह बताया गया कि संस्कृत वाक्य से किसी भी तरीके का सरोकार रखना कष्ट, सामन्ती, ब्राह्मणवादी और साम्प्रदायिक होना है, तथा लोक वाक्य से किसी तरीके का सम्बन्ध रखना पिछड़ा और 'नोस्टाल्जिक' होना है। मुझे नहीं पता कि भाषा को काट-छाँट कर टूट बनाने वाले लोग- लेखक किसी यूरोपमरीकी (यूरो-अमरीकी) भाषिक परिवारजिनके इशारों पर चलने की कोशिश हमारा आधुनिक हिन्दी समाज कर रहा है हमें अपना साम्राज्य चलाते हैं या नहीं। क्योंकि बहुत सारे पारम्परिक शब्द हम भूल चुके हैं अतः हमें यह बताया गया है कि उन शब्दों को भूल ही जाना चाहिए और इस कारण असाध्य वीणा, राम की शक्तिपूजा आदि कविताएँ जिनमें वे शब्द हैं

अपठ्य-अपाठ्य हो चुकी हैं, हमें यह बताया गया है कि रमेश चन्द्र की आलोचना की बेहद प्रश्नाकुल और ऊर्जस्वी भाषा एक बोझिल और कृत्रिम भाषा है, हमें यह बताया गया है कि एक तथाकथित विरासत है जिसका नाम प्रेमचन्दीय विरासत है और यह विरासत साहित्य की सम्पूर्ण अर्थवत्ता से बड़ी है और जो इस विरासत के लपेटे में नहीं आता उसे अभारतीय साहित्य कहना चाहिए और इस नाते अप्रामाणिक मान कर फेंक देना चाहिए। और भी बहुत सारी बातें बतायी गयी हैं हमें हिन्दी के आधुनिक लेखक समाज के द्वारा जो न सिर्फ हिन्दी के कलेवर को कम करती हैं वरन् हिन्दी के लिए अपमानजनक भी हैं। ऐसे में विद्यानिवास मिश्र तथा वागीश शुक्ल की रचनात्मक उपस्थिति एक आश्वासन की तरह है कि कुछ ऐसा अब भी है जिससे हमें रोशनी प्राप्त हो सकती है। लेकिन जैसा कि होता आया है, हिन्दी में अपने ही रचनाकारों के प्रति घोर अपेक्षा बरतने की तथा अपना प्रामाण्य हिन्दीतर एवं अभारतीय साहित्यों में खोजने की आदत है। अतः आश्चर्य नहीं कि हिन्दी लेखन में विद्यानिवास मिश्र और वागीश शुक्ल के लेखन के बारे में कोई अधिक रचनात्मक सुनगुन नहीं है। विद्यानिवास मिश्र को तो कोई-कोई नोस्टाल्जिक कह भी देता है, परन्तु वागीश शुक्ल को लेकर अजीब-सी चुप्पी है।

आज जब हिन्दी में देरिदा की धूम मची हुई है, लूकाज की हवा जोरों पर है और मार्क्स महोदय पता नहीं कब से छाये हैं, क्या यह आशा की जा सकती है कि नयी पीढ़ी अपनी पिछली पीढ़ियों के पूर्वग्रहों से मुक्त हो सकेगी और अपने वाङ्मय को वह सम्मान दे सकेगी जो उसे मिलना चाहिए। मैं मानता हूँ कि स्वयं आज की इस पीढ़ी के लिए इस आधुनिक कहे जाने वाले साहित्य की अपेक्षा प्राचीन साहित्य का पठन अधिक आवश्यक है क्योंकि उस पहले लिखे जा चुके साहित्य में ही जीवन की पूर्णता की झलक मिलती है और पूर्णता को समझे बिना जीने का अधूरापन एक आदत बन जाती है और जिससे केवल आत्मदया ही उपज सकती है जिसके चित्रों की भरमार है हमारे वर्तमान साहित्य में। मैं यह भी स्पष्ट मानता हूँ कि नन्द दुलारे वाजपेई, नामवर सिंह आदि की अपेक्षा हमारे आज के लिए भी मम्मट, पण्डित जगन्नाथ आदि अधिक कारगर हैं और हमारी इस पीढ़ी के लिए वे ही आदर्श हो सकते हैं। अन्य बातों को छोड़ भी दिया जाय तो हम यह तो सीख ही सकते हैं कि कला को कैसे बरता जाता है और हमारे सामने कुछ ऐसे उदाहरण तो आएँगे ही जिन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हो तथा हम यह भी देख पाएँगे आखिर वे कौन-सी चीजें हैं जिन्हें भारत विश्व को दे सका है, अन्यथा वर्तमान आलोचनात्मक साहित्य को देखते हुए तो भारत पिछलग्गू ही नजर आता है और विडम्बना यह है कि इस साहित्य में इस पिछलग्गूपन से उबरने का संकल्प तथा चेष्टा दृष्टिगोचर नहीं होती। क्या हम यह नहीं देख पा रहे हैं कि तमाम शोर के बाद भी हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य विश्व क्या राष्ट्रीय स्तर पर भी कोई नयी उद्भावना नहीं दे पाया है, जबकि हमारे प्राचीन वाक्य में इस की भरमार

थी? ऐसे में अपनी पुरानी जीवनी-शक्ति पर ही भरोसा क्यों न किया जाय। स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पुरानी जीवनी-शक्ति पर ही भरोसे के नाम पर प्राचीन आचार्यों को दुहराना भी एक आत्मघाती रास्ता होगा वरन् मेरा सीधा इंगित यह है कि आज भी हमारा सच्चा आदर्श हमारा प्राचीन कहा जा सकने वाला वाङ्मय ही हो सकता है। तभी हम कुछ अधिक सार्थक कर सकने में समर्थ होंगे।

रचना से साक्षात्कार की कोई पूर्वनिर्धारित शर्त नहीं होती सिवाय इस शर्त के कि सारी शर्तें रचना द्वारा ही तय होती हैं। आलोचना भी तभी सार्थक हो सकती है जब वह इन शर्तों को पहचान कर इनकी पहचान सहृदय पाठकों से करवाए। हमारी इस पीढ़ी को अभी इसकी बानगी नहीं दीखी है, बड़े स्तर पर। लेकिन यहाँ मैं वागीश शुक्ल जी की एक बाद उद्धृत कर आगे बढ़ना चाहूँगा जो वे भरतमुनि तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य को उद्धृत करते हुए कहते हैं आलोचना का यह काम है कि वह रचना के दरबार में करताल लिये हाजिर रहे। हमारी इस पीढ़ी को अभी यह सीखना और समझना होगा।

रमेश चन्द्र शाह जी अपनी पुस्तक 'छायावाद की प्रासंगिकता' में एक जगह ग्रीक कवि कवाफी का जिक्र करते हुए कहते हैं कि क्या यहाँ कवाफी की कदो कामत का कोई नहीं। मैं कवाफी के दिक्काल को नहीं जानता और न ही उनके रचनाकर्म के करणों से परिचित हूँ। लेकिन शाह जी मेरे लिए आधुनिक हिन्दी के कुछ उन गिने-चुने साहित्यकारों में से हैं जिन्हें मैं आधिकारिक मानता हूँ, सो कवाफी की बात मेरे लिए प्रामाणिक है। जब मैंने पहले-पहल इस वाक्य को पढ़ा था तब मैं जड़ीभूत हो गया था। अज्ञेय को मैं आधुनिक हिन्दी की सर्वोत्तम रचनात्मक उपलब्धि मानता हूँ लेकिन इस एक वाक्य के सन्नाटे से मैं अब तक उबर नहीं पाया हूँ। मैं ठीक-ठाक नहीं जानता कि कवाफी में ऐसे कौन-कौन से ऐसे गुण थे जिनको शाह जी उद्धृत करना चाह रहे हैं (यद्यपि अपनी पंक्तियों में उन्होंने इसके संकेत भी दिये हैं, लेकिन वे गुण अभी तक मेरे लिए एक सीमा के बाद अमूर्त ही हैं), परन्तु इस एक वाक्य ने मुझे हिन्दी साहित्य एवं रचनाजगत में बहुत भटकाया। इसी भटकन के दौरान मैं विद्यानिवास मिश्र और वागीश शुक्ल को पढ़ सका। और पढ़कर जो जान सका वह यही था कि अपनी भूमियाँ हम से छूट चुकी हैं, हम अपनी जमीन पर खड़े नहीं हैं, अपना शास्त्र और लोक दोनों हमने खो दिया है, और उनकी खोज, उस छूट जाने की पड़ताल तथा उसके उपादान कारणों के विश्वासपूर्वक निवारण की चेष्टा हमारे आज के हिन्दी साहित्य में बड़े पैमाने पर नहीं दीखती है। तो मैं यह प्रश्न उपस्थित करना चाहता हूँ कि उस लोक और उस शास्त्र जहाँ कभी हमारी प्राणवायु का संचरण था और जिससे विरत होने पर हम अपनी मूल शक्ति से वंचित हैं, उस लोक और उस शास्त्र की खोज में जाने का साहस क्या हमारे आज के हिन्दी साहित्य में है। क्योंकि तभी वह अपनी उस भूमि को प्राप्त कर सकेगा जहाँ अपने खण्डहर होते जा रहे घर

को पुनः बसा सके, अपने धूल-धूसरित घाट को सँवार सके, और उस घर से घाट के रास्ते पर वह उन्मुक्तता के साथ गति कर सके। तभी शायद कवाफी की खोज पूरी हो सकेगी। अन्यथा अभी तो यही लगता है कि हम न घर के हैं, न घाट के और बीच के रास्ते पर सियारों के अनगिनत खोह हैं। या शायद यह कामघर, घाट और बीच के रास्ते का निर्माण इसलिए नहीं हो सका कि कोई कवाफी नहीं आया अब तक? मेरी दृष्टि में इससे बड़ा कोई प्रश्न नहीं है आज।

## संदर्भ

1. **विरथ रघुवीरा**, *रहिमन पानी राखिए*, प्रथम संस्करण, 2006, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. **गुजर जाती है धार मुझ पर भी**, *बसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं*; चतुर्थ संस्करण 2002, लोकभारती प्रकाशन, प्रयाग।
3. **हम सभी बेच कर आये हैं अपने सपने**, तीसरा सप्तक, सं अज्ञेय, पहला अजिल्द संस्करण, 2000, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
5. **भूमिका**, *शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं*, प्रथम संस्करण, 2006, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली। उद्धरण में जोर मेरा है।
6. **इशारे जिन्दगी के**, *अज्ञेय काव्य स्तबक*, सं. विद्यानिवास मिश्र एवं रमेश चन्द्र शाह, प्रथम संस्करण, 1995, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली।
7. तृतीय संस्करण, 2002, लोकभारती प्रकाशन, प्रयाग।
8. *आलोचना का पक्ष*, प्रथम संस्करण, 1998, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
9. **निराला और परवर्ती हिन्दी कविता, आलोचना का पक्ष, प्रथम संस्करण, 1998, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।**
10. **राम की शक्तिपूजा : वागीश शुक्ल द्वारा अध्ययन**, *कुँवर नारायणः संसार*, प्रथम संस्करण, 2002, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
11. **मतभेद**, *पूर्वग्रह*, अंक 111।
12. **भाषा की काव्यमुक्ति : निराला से धूमिल तक**, *छायावाद की प्रासंगिकता*, प्रथम संशोधित पॉकेट बुक्स संस्करण, 2003, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
13. *अज्ञेय : वागर्थ का वैभव*, प्रथम संस्करण, 1995, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली।
14. प्रथम संस्करण, 2000, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली।
15. *शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं*, प्रथम संस्करण, 2006, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
16. आलोचना: धर्म, कर्म और रीति-रिवाज, *शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं*, प्रथम संस्करण, 2006, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।

## वैश्वीकरण : श्रमिक और श्रम संगठन

विपिन चन्द्र राय\*

अभी तक भारतीय उद्योग जगत, चाहे वह सार्वजनिक क्षेत्र हो या निजी क्षेत्र, के प्रबंधनों, श्रमिकों एवं श्रम संगठनों में आम तौर पर वैश्वीकरण और उदारीकरण को लेकर भ्रम और भय की स्थिति बनी हुई है। वे अपने आर्थिक और व्यापारिक मंदी के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन को जिम्मेवार मानते हैं। उन्हें महसूस होता है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीति उनके व्यावसायिक हितों पर सीधा प्रहार कर रही है, जिस कारण श्रमिकों में अपने रोजी-रोजगार छिन जाने का डर समाया हुआ है। श्रम संगठनों और राजनीतिक दलों ने इसके पक्ष-विपक्ष में इतने तर्क-वितर्क और वाद-विवाद किये हैं कि स्वाभाविक रूप से श्रमिकों को चिंता सताने लगी है। इसी बहाने तथाकथित संगठनों और दलों का भी हित सध रहा है, जबकि उन्हें श्रमिकों के हितों की वास्तविक चिंता कतई नहीं है।

आज की तारीख में वैश्वीकरण की सच्चाई को नकारना, ठीक ऐसा है, मानो यह कहना कि सूरज पूरब की बजाया पश्चिम से निकलता है। आज का भारत वैश्विक गांव का एक हिस्सा बन गया है। तो विश्व की तमाम अच्छाइयों और बुराइयों का संगम भी भारत में हो गया है। तथाकथित बुद्धिजीवी समुदाय विशेषकर वामपंथी बुद्धिजीवियों का परम प्रिय कार्य वैश्वीकरण, उदारीकरण, पूंजीकरण, यांत्रिकीकरण के विरुद्ध शब्दों की जुगाली करना है। जबकि जिन राज्यों में वामपंथियों की सरकारें हैं, वे भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उदारीकृत पूंजी के लिए विभिन्न प्रलोभनों का सहारा ले रही हैं। वे सभी लगातार बार-बार विदेशी दौरो पर जा रहे हैं तो दूसरी ओर उनका श्रम संगठन इसका विरोध भी कर रहा है। इन द्विअर्थक कारणों से उनकी विश्वसनीयता पर संदेह और शक-शुबहा होना लाजिमी है। श्रमिक तो साधारण पढ़ा-लिखा तबका है, उसे इतनी समझ कहाँ, उसे तो मात्र अपने अस्तित्व-स्थायित्व और वेतन से मतलब है। इस विषम परिस्थिति में श्रमिकों को भयाक्रांत करने की अपेक्षा वैश्वीकरण के यथार्थ की ज्ञानाधारित शिक्षा प्रदान करने की नितान्त आवश्यकता है। सीधे अर्थों में आक्रमण से बचाव का एकमात्र रास्ता प्रति आक्रमण ही है।

\*विपिन चन्द्र राय, एफ12, टायो कॉलोनी, पो0गम्हरिया, जमशेदपुर832108 (झारखण्ड)

भारतीय औद्योगिक प्रबंधन ने इस तथ्य को अब भली-भाँति आत्मसात कर लिया है। वैश्विक बाजार के अनुरूप प्रतियोगी भावनाओं को भी विकसित कर लिया है। अपने एकाधिकार की मानसिकता का परित्याग कर साहसिक निर्णय लेकर लाभकारी स्थितियों में ढाल लिया है।

लगभग सभी उद्योगों ने उत्पाद, आंतरिक संरचना एवं विपणन की नीतियों में बदलाव कर लिया है। उत्पादकता में वृद्धि, गुणवत्ता में सुधार, नये बाजार की खोज, ग्राहकों की आवश्यकताओं के प्रति जागरूकता, विश्वस्तरीय प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि के द्वारा वैश्वीकरण की व्यावहारिकता को नये मापदंड के रूप में स्थापित कर लिया है, जिस कारण उद्योग जगत को नयी दिशा मिली है। सारी सफलता के मूल में मानव संसाधन यानि श्रमिक संसाधन की भूमिका में परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता है। श्रमिकों के सोच एवं कार्य पद्धति में बदलाव लाकर ही वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना और विश्व बाजार में टिका जा सकता है।

इसलिए श्रमिक शिक्षण अपरिहार्य है। साथ ही श्रम संगठन को इसमें महत्वपूर्ण योगदान करना होगा। आज के संदर्भ में श्रमिक शिक्षा की आवश्यकता पर जितना भी जोर दिया जाए, कम है। यहाँ चर्चा का विषय श्रमिक शिक्षा और श्रम संगठनों के मध्य अन्तर्संबंध एवं परस्पर निर्भरता ही है।

शिक्षा की व्यापक परिभाषा यों है; कोई भी कार्य या अनुभव जो किसी व्यक्ति के मस्तिष्क, चरित्र और शारीरिक क्षमता पर किसी भी प्रकार से रचनात्मक प्रभाव डाले, शिक्षा कहा जा सकता है। श्रमिक शिक्षा के अर्थ में चिंतक एवं अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने कहा है, “शिक्षा साधारण श्रमिक पर भी बहुत तरीके से अप्रत्यक्ष लाभकारी प्रभाव डालती है। यह उसकी मानसिक क्रिया को अभिप्रेरित करती है। यह उसमें बुद्धिमत्तापूर्ण कौतूहल का भाव जाग्रत करती है। अपने दैनिक कार्यों में अधिक बुद्धिमान, सजग तथा विश्वसनीय बनाती है। यह काम के घंटों में उसके जीवन का काल बढ़ाती है, यह भौतिक समृद्धि के उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है।

श्रमिक कौन है? स्वतंत्र भारत में श्रमिक केवल आय अर्जित करने वाला नहीं, केवल दोयम अर्थ का एक कर्मचारी नहीं, कोई उपभोक्ता वस्तु नहीं, गुलाम नहीं, बल्कि देश को चलाने वाले पहिए हैं। पंडित नेहरू ने जिन बड़े पैमाने के उद्योगों को स्वतंत्र भारत के मंदिर कहे थे, वे मंदिर (संयंत्र, दफ्तर, स्वचालित उपकरण और बाकी सभी चीजें) श्रमिक वर्ग के खून, पसीने और आँसुओं के बिना उत्पादक नहीं हो सकते हैं। श्रमिक वर्ग शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और अध्यात्मिक, अनथक, परिश्रम से राष्ट्रनिर्माण के महती कार्य में अमूल्य सहयोग दे रहा है। लेकिन उन श्रमिकों के योगदान का मूल्यांकन सही ढंग से आज तक नहीं किया जा सका है। सामान्यतया ‘यूज एंड थ्रो’ की वस्तु समझकर श्रमिकों को उचित व्यवहार, समुचित प्रतिष्ठा नहीं दी जाती है। जिस कारण श्रमिकों में स्वयं हीन भावना का अनुभव होता है। यहाँ तक

की कहीं यह बताने में वह संकोच महसूस करता है कि कारीगर, कामगार और हाथ से काम करने वाला इंसान है।

ऐसी परिस्थिति में श्रमिक संघों की भूमिका बढ़ जाती है। श्रमिकों के स्वाभिमान को जाग्रत करने का महत्वपूर्ण कार्य श्रमिक संघों के कंधों पर है। श्रमिक शिक्षा उसके संगठन के प्रशिक्षण और रणनीति का अहम हिस्सा है, जिससे श्रमिक या मजदूर अपने अधिकारों और जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक बनता है। मूलतः सामाजिक शक्ति प्राप्त करने और उसे स्थायी रखने के लिए श्रमिक स्वयं को श्रमिक संघ के रूप में संगठित करते हैं जैसे कि सदस्यता को दुर्घटनाओं, बर्खास्तगी, आपदाओं तथा अन्य कठिनाइयों के समक्ष एकमात्र सुरक्षा माना जाता है, जिसके फलस्वरूप श्रमिक अपने संगठन को आपदाओं और संकटों के समय उपयोगी मानते हैं।

यथार्थतः श्रमिक संगठन कोई व्यापारिक प्रस्ताव नहीं, बल्कि एक सामाजिक और गैर राजनीतिक आंदोलन है। व्यवसाय में लाभ सफलता का सीधा मापदंड है। पर मजदूर संघों की सफलता का मापक क्या है? कुछ का कहना है कि इसने श्रमिकों को जो फायदा या सुविधाएँ दिलायी है, इस स्तर पर इसकी सफलता चिन्हित की जा सकती है। कुछ की समझ में संघ का बैंक-वेलेंस पैमाना हो सकता है। हालांकि एक सफल संघ को अच्छी तनख्वाह के लिए मोलभाव करना चाहिए तथा अपनी वित्तीय स्थिति सुदृढ़ रखनी चाहिए, पर यही काफी नहीं है। वैसा संघ जो केवल मौद्रिक लाभ पर केंद्रित रहता है, उसके सदस्य बहुत हिसाबी होते जाते हैं। सदस्यता शुल्क अदा करना ही उनकी एकमात्र जिम्मेदारी रह जाती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रमिकों और संगठन के बीच मूलभूत सेतु तो मजदूरों के लिए अधिक वेतन और ज्यादा सुख सुविधा दिलवाना ही है। इसके बिना कोई भी संगठन कामयाब और टिकाऊ नहीं हो सकता। पर श्रमिक संगठनों को अपने क्षेत्र का विस्तार कर अन्य सेतु भी बनाने चाहिए ताकि कार्यों के अन्य पहलुओं को भी इसमें सम्मिलित किया जा सके। श्रमिक संगठनों को ऐसी प्रक्रिया और कार्यक्रम निर्धारित करने चाहिए जो सदस्यों के शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, परिवार कल्याण, पर्यावरण शुद्धता, रोजगार में वृद्धि इत्यादि से संबद्ध हो।

श्रमिक संगठनों को सामान्य श्रमिक के हित को संरक्षित करना एवं बढ़ावा देना है, साथ ही जनहित और कल्याण को भी ध्यान में रखना है। सिर्फ गोल मोल बातों से भरमाने की अपेक्षा प्रबंध-प्रक्रिया के अटूट हिस्से के रूप में उसे अपने को प्रदर्शित भी करना होगा। उसकी प्राथमिक जिम्मेदारी अपने सदस्यों के प्रति है; मजदूरों के कार्य स्थल, निवास स्थान की उचित व्यवस्था एवं शोषण एवं दमन से बचाना है। श्रमिक संगठनों की जिम्मेदारी उन उद्योगों के प्रति भी है, जहाँ वे कार्य कर रहे हैं। इस जिम्मेदारी में उत्पादन, उत्पादकता, अनुशासन, कुशलता और उद्योग के प्रति वफादारी सुनिश्चित करना सम्मिलित है। श्रमिक संगठनों की जिम्मेदारी समाज के प्रति इस

संदर्भ में भी है कि यह जनकल्याण को प्रभावित करने वाले आर्थिक विकास से जुड़े। यह उम्मीद रहती है कि मजदूर संघ के नेताओं का आम मजदूरों पर काफी प्रभाव होगा, इसलिए उनके निर्णय का समाज पर काफी असर पड़ेगा। श्रमिक संगठन प्रबंधन की अपेक्षाओं के कार्यान्वयन और नियंत्रण का संवाहक बन सकता है। इसलिए प्रबंधन के साथ व्यवस्था नियामक की भूमिका को निभाने का महत्वपूर्ण दायित्व श्रमिक संगठनों पर है।

आज के परिवर्तनशील समय में जहाँ बड़ी संख्या में स्थायी प्रकृति के रोजगार में कटौती हो रही है, श्रमिकों की छंटनी हो रही है, रोजगार के नये अवसर कम होते जा रहे हैं, प्रबंधन अधिकांश काम ठेकेदारों या आफ लोडिंग के द्वारा करवा रहा है। इन्हीं परिवर्तनों की वजह से श्रमिक बल छिन्नभिन्न हो रहा है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए श्रमिक संगठनों को मजबूती और दृढ़ता से खड़ा होना चाहिए, जनांदोलन का नेतृत्व करना चाहिए। श्रमिक बल को संगठित करके मूल्य प्रभावी भूमिका के लिए उत्प्रेरित करना चाहिए। तभी श्रम संगठनों की सार्थकता सिद्ध होगी। लेकिन यथार्थतः आज मजदूर संघों या श्रमिक संगठनों के बारे में मजदूरों के विचार संदेहास्पद होते जा रहे हैं। आम तौर पर श्रमिक नेता संगठन को बतौर सीढ़ी इस्तेमाल करते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य संगठन के बलबूते पर संबद्ध राजनीतिक दलों के कोटा से अपनी उम्मीदवारी सुनिश्चित करना है। श्रमिक नेताओं को किसी भी तरह विधायक या सांसद बनने की तमन्ना रहती है। उन्हें मजदूर हित की अपेक्षा स्वहित की चिंता रहती है। सामान्यतया श्रमिकों को लगता है कि उनका संगठन प्रबंधन का जेबी संगठन बना हुआ है। उनका संगठन श्रमिक के बारे में विचार विमर्श या सोचने की अपेक्षा प्रबंधन के बारे में सोचता है।

वस्तुस्थिति भी ऐसा ही संकेत करती है कि आज के श्रमिक नेता सादा जीवन उच्च विचार की अपेक्षा ऊँचे जीवन और झूठे विचार के आश्वासन का झुनझुना थमाकर मजदूरों को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। यहाँ तक कि वामपंथी मजदूर संगठन जो सर्वहारा के हितों का ढोल पीटते नहीं अघाते, वे भी सारी समस्या का समाधान हड़ताल, कार्यबंदी समझते हैं। इसके दुष्प्रभाव से मजदूरों के लिए जीवन यापन का संकट पैदा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप श्रमिकों की समस्या जैसी की तैसी रह जाती है और प्रबंधन तालाबंदी कर चैन की बंसी बजाते हैं। ऐसा देखा गया है कि जिन राज्यों में वामपंथियों का बोलबाला रहता है, वहाँ उद्योग घंघे चौपट हो जाते हैं और उद्योगपति किसी अन्य राज्य में जाकर अपना कारोबार स्थापित कर लेते हैं। पश्चिम बंगाल इसका सटीक उदाहरण है, एक समय यहाँ कल-कारखानों, विभिन्न उद्योगों की बहुतायत थी तो आज नये उद्योग स्थापित होने के बदले पुराने उद्योग भी रुग्ण और बंदी के कगार पर हैं। इसका परिणाम नेताओं की अपेक्षा मजदूरों को भोगना पड़ता है। श्रमिक बल पलायन के लिए विवश और भुखमरी के शिकार हो रहे

हैं। इसलिए आज प्रत्येक श्रम संघों या मजदूर संगठनों को सत्यता, निष्ठा और ईमानदारी पूर्वक श्रमिकों के बीच अपनी विश्वसनीयता अर्जित करनी होगी।

श्रम संगठन को संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों के श्रमिकों को उत्पादकता-सचेतन, अधिक जानकारीपूर्ण, कुशल और देश को सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में नई ऊँचाइयों तक ले जाने योग्य बनाना होगा। तभी भारत वैश्विक बाजार में एक शक्तिशाली प्रभावशाली देश के रूप में उभरेगा। इस कार्यांतरण के लिए मजदूर संघ को प्रमुख भूमिका निभानी होगी। इन विविध उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए श्रम संगठनों को प्रतिबद्धता पूर्वक श्रमिक शिक्षा, प्रशिक्षण और विकास के लिए समर्पित होना होगा। तभी वैश्वीकरण की नई चुनौतियों का सामना करने में हम सक्षम और सामर्थ्यवान बन सकते हैं।

*With Best Compliments from*  
**SANKEN**  
**PLASTRONICS**  
**(I) LTD.**  
**C-32/A, PHASE II, NOIDA (U.P.)**

## दूर देखती आँखें : अनुवाद में बारीक मानवीय संवेदनाएं

योगेन्द्र कृष्णा\*

रमेशचंद्र शाह उन गिने-चुने सम्मानित-पुरस्कृत साहित्यकारों में से एक हैं जिनके रचनाकर्म में बारीक अनुभूतियां केंद्रीय भूमिका में होती हैं। विशेषकर काव्य विधा में ये बारीक संवेदनाएं अर्थवत्ता के कई-कई स्तरों पर उद्घाटित होती हैं, जिन्हें हम अपनी-अपनी संवेदनशीलता एवं आस्वाद-क्षमता के आधार पर अलग-अलग स्तरों पर पकड़ पाते हैं। क्या यही कारण नहीं है कि वर्षों पूर्व पढ़ी गई कोई उत्कृष्ट कृति बाद के वर्षों में पढ़े जाने पर पहले से कहीं अधिक स्तरों पर खुलती प्रतीत होती है? यह बात गद्य से कहीं अधिक काव्य के संदर्भ में महसूस की जाती रही है।

काव्यानुवाद में मूल संवेदनाओं की बारीकियों को प्रभावी ढंग से संप्रेषित कर पाना मूल रचनाकर्म से भी कहीं अधिक गंभीर, चुनौतीपूर्ण एवं जोखिम भरा कर्म है। रमेशचंद्र शाह ने विश्व कविता संचयन *दूर देखती आँखें* की कविताओं के अनुवाद में, बल्कि पुनर्सृजन में, यह जोखिम बखूबी उठाया है। हिंदी में बहुत कम ऐसे काव्यानुवाद पढ़ने को मिले हैं जिनमें मूल कविताओं के आंतरिक लय को भी अक्षुण्ण रखने का प्रयास दिखता हो। कवि के इस संचयन पर कुछ लिखने में मुझे इसलिए भी समय की कुछ छूट लेनी पड़ गई कि मैं हिंदी में अनूदित इनमें से अधिकतर कविताओं को, विशेषकर आसानी से उपलब्ध ब्रिटिश कविताओं को मूल में पढ़ना चाहता था। इसलिए भी कि साहित्य की किसी भी विधा में अनुवाद की समीक्षा मूल रचना को बिना पढ़े शायद संभव नहीं है।

संभव है कविता के कुछ सुधी पाठक *दूर देखती आँखें* की कविताओं से पूर्व से परिचित हों, क्योंकि इनमें से अधिकतर कविताएं पहली बार विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। लेकिन आज एक जगह संकलित होने के बाद इन कविताओं ने अगर एक खास प्रकार की तारतम्यता एवं नैरन्तर्य हासिल कर ली हैं तो यह आकस्मिक नहीं है। विभिन्न देशों से अनुवाद के लिए इन कविताओं जिनमें ब्रिटिश, कोरियाई, श्रीलंकाई एवं जापानी कविताएं शामिल हैंके चयन में एक आंतरिक प्रवाह

\*संपर्क : योगेन्द्र कृष्णा 82/400, राजवंशीनगर, पटना : 800023 दूरभाष : 9835070164

और संगति दिखती है। बाहर से, स्थूल एवं भौगोलिक स्तर पर, अलग-थलग दिखती इन रचनाओं में बारीक मानवीय संवेदना एवं ऊष्मा की एक सार्वभौमिक अंतर्धारा शुरू से अंत तक प्रवाहित है। और सभ्यताओं- संस्कृतियों के आर-पार जाती ये कविताएं सिर्फ दूर ही नहीं, गहराई में भी देखती हैं।

विभिन्न देशों की कुछ कविताओं के उद्धरण यहां द्रष्टव्य हैं जो विषय की विविधता के बावजूद मूल संवेदना में कितनी जीवनोन्मुख एवं एकात्म दिखती हैं :

*टहल रहे हम साथ आज; मैं, मेरी बोटिया*

*कितनी उजली पकड़ हाथ की उसके पूरे*

*मेरी इस उंगली पर*

*आजीवन आलोक-वलय यह*

*इस हड्डी के गिर्द करूंगा अनुभव मैं, जब*

*हो जाएगी बड़ीआज से दूर, कि जैसे*

*दूर देखती आँखें उसकी अभी, आज ही*

*(अपनी बेटी के लिए-स्टेफान स्पेंडर)*

*रात यहां चुपचाप पड़ी है घर में*

*जहां पुरानी सभी आहटें, भूली बिसरी*

*निश्चल पड़ी हुई हैं जैसे किसी झील में डूबे पत्ते*

*हो जाएगी बड़ीआज से दूर, कि जैसे*

*बेकाबू है रात वही; पर बाहर*

*(जाड़े की एक रात/टोमास ट्रांसटोमर)*

*छाया है भारी शरीर से*

*चलते हैं हम इसीलिए तो, सिर लटकाए*

*गाते हुए गीत आदमी की चीजों के*

*नमक लहू में घोल, आंसुओं में भी शक्कर*

*प्यार आदमी से करना है सबसे अधिक अकेला होना*

*(पीड़ा का त्यौहार/चाड् ह्यान जाड्)*

*जब तक उगा नहीं है वह दिन*

*जाना ही है मुझे छोड़ कर तुम्हें यहां पर*

*क्योंकि अंधेरे कोने में उस तंग गली के*

*इंतजार करते वे मेराजाना ही होगा अब मुझको*

*उनकी आग बुझाने*

*(एक अनाथ बालिका के प्रति/डब्लू ए अबेसिंघे)*

इन कविताओं से गुजरते हुए हम एक ओर जहां अपने जीवन की आंतरिक दुनियाओं के यथार्थ और उनकी कोमलताओं से रू-ब-रू होते हैं, वहीं दूसरी ओर लौकिक जीवन की स्थूल हकीकतों से भी टकराते हैं। जीवन को सही अर्थों में जीने के लिए आवश्यक सच्चे प्रेम, सौन्दर्य और भावोन्माद की ऊष्माणें यहां अपने सारे उपादानों के साथ मौजूद हैं। यहां आकाश और तारे तथा स्वप्न और आकांक्षाएं ही नहीं, देह और देहातीत सुख-दुख की स्मृतियों के बारीक रेशे तथा आकाश और पृथ्वी में खुलती खिड़कियां भी हैं।

उजली रेत पर साथ-साथ लेटे  
हम देखा किए देर तक  
ढलती हुई सांझ को...

(उत्सव/कोलिन फॉल्क)

सुबह-सुबह चिड़ियां आके भंग कर देती हैं  
हमारा आलिंगन  
कुछ इस तरह आती हैं वे पेश हमारे साथ  
मानो हम बच्चे होंनिहायत अबोध  
जैसे उन्हें पता हो कि इसका अंत होना है  
आखिरकार आंसुओं में...

(सुबह-सुबह/ह्यूगो विलियम्स)

जैसे धूप-तपा पत्थर हो भरा मुट्ठी में  
खड़ा पेड़ के नीचे गोताखोर गगन का।  
भंवरजाल को चीर मृत्यु के आर-पार भी  
क्या प्रकाश का छत्र तनेगा उस के ऊपर

(जाड़े की एक रात/टोमास ट्रांसटोमर)

संकलन की इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्हें पढ़ते हुए हमें क्षण भर के लिए भी यह अहसास नहीं होता कि हम इन्हें अनुवाद में पढ़ रहे हैं। हद तक कि अगर ये कविताएं हमारे सामने अनुवाद के रूप में नहीं परोसी गई होतीं तो हम इन्हें मूल कविताओं की तरह पढ़ रहे होते।

विदेशी भाषा में रची गई किसी कविता को पढ़ कर उसे अपनी भाषा में अनूदित करने की प्रेरणा कब और क्यों होती है? यह कैसा मानव-मर्म है जो सभ्यताओं-संस्कृतियों के आर-पार कौंध जाता है और इसी कारण हमारी अपनी आवाज में, हमारी अपनी बोली-बानी में भी प्रगट होने की मांग करता है? इन प्रश्नों के संदर्भ में बहुत सारे कारण गिनाए जा सकते हैं, लेकिन अगर दूर देखती आंख के

संदर्भ में इन प्रश्नों को देखा जाए तो यह इन रचनाओं का कवि-अनुवादक द्वारा आत्मसात करने की प्रक्रिया भर नहीं प्रतीत होती, बल्कि इससे भी दूर, भावप्रवण एवं प्रांजल आत्माभिव्यक्ति तक जाती रचनात्मक प्रक्रिया के रूप में कौंधती है। शायद इसलिए भी अनुवाद इतना जीवंत और रचनात्मक रूप से मौलिक बन पाया है।

अधिकतर उत्कृष्ट कविताएं अपने होने में ही अपनी सार्थकता अर्जित कर लेती हैं। उन्हें व्याख्यायित-रूपायित करना उनके होने को, उनके आस्वाद को सीमित करने, और कभी-कभी तो विरूपित करने जैसा उपक्रम हो जाता है। इसलिए कि अच्छी कविताओं का कोई अर्थात् नहीं होता। और आप पाएंगे कि इस संकलन की भी अधिकांश कविताएं अपने होने के लिए किसी अर्थात् पर निर्भर नहीं हैं, आलोचक एफ. आर. लीविस ने भी कहा था कि कविता में शब्द हमें सोचने के लिए या निर्णय सुनाने के लिए आमंत्रित नहीं करते, बल्कि वे छूने, टटोलने, स्पर्श करने, कुछ रचने के लिए बुलाते हैं। रमेशचन्द्र शाह ने इन कविताओं के आमंत्रण को स्वीकार किया है, इन्हें छू कर, टटोल कर, स्पर्श कर कुछ अद्भुत रचा है, आप भी अब इन्हें अपनी भाषा में छू-टटोल सकते हैं।

प्यार नहीं कर सकते कविता को कविता से  
कैसे भला प्यार तब करोगे तुम कविता से?

कोई नहीं देखता है बर्फ को, जो गिरती है रात में  
कोई नहीं चलता है उस पर : पगचापहीन  
वह है वहां : नीरव, स्वच्छ  
सुन्दर अपने आप में।

(कविता खाली कविता/ चाड़ ह्यान जाड़)

\* दूर देखती आंखें (विश्व कविता के एक चयन)

अनुवाद : रमेशचंद्र शाह

प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग, बीकानेर

संस्करण : 2006

पृष्ठ : 95

मूल्य : 125 रु. (सजिल्द)

## उद्बोधन का ताप\*\*

पुष्पपाल सिंह\*

प्रेमपाल शर्मा की यह पुस्तक पढ़ने के साथ ही समाप्त नहीं होती। उसकी विचार-सरणि बहुत देर तक चेतना पर बनती हुई, उसे झिंझोड़ती हुई, एक उद्बोधन-चेतना को जगाने का काम करती है। पुस्तक के कथ्य पर आने से पहले उस समग्र प्रभाव की बात कर ली जाए, जो यह अपने पाठक पर छोड़ती है। हिन्दी में अपने प्रकार का ही बहुत कुछ गद्य सामाजिक चिन्तन या समाजशास्त्रीय अध्ययन के रूप में आ रहा है किन्तु यहाँ लेखक हिन्दी पढ़ी को विशेषतः ध्यान में रख कर जीवन की ऐसी आधारभूत बातें चिन्तन और विमर्श के स्तर पर उठाता है कि यह अपने समाज का एक बहुत सारगर्भित विवेचन बनता है, हर समस्या को केवल समस्या के रूप में न छोड़कर, उसके निदान की एक दिशा देता हुआ। पुस्तक के ये छोटे-छोटे आलेख पाठक की दृष्टि को सम्पन्नता देते हैं, वैचारिक सम्पदा में इजाफा करते हुए।

किसी भी निबन्धधर्मा विधा में लेखक का व्यक्तित्व मुखर होकर सामने आता है। प्रेमपाल शर्मा अपनी इन टिप्पणियों-आलेखों में अपने व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप छोड़ते हैं, समकाल की अपसंस्कृति से आकुल-व्याकुल वह एक ऐसा सहज ग्रामीण व्यक्तित्व है, जो महानगरीय कंकरीट के जंगलों में रहता हुआ भी, सहज ही मानसिक रूप से गाँव के सहज, सरल वातावरण में पहुँच जाता है, उसमें एक ऐसा आक्रोश है, जो अप्रिय, अघटित होता देख निडर भाव से अपने फक्कड़ स्वभाव से सब की खबर लेता है, अपनी, अपने पड़ोसियों की, अपनी पीढ़ी की “न काहू से दोस्ती न काहू से बैर” भाव से। जरूरत समझता है तो आत्मान्वेषण के क्षणों में स्वयं अपने मुख पर भी थुकवाने में गुरेज नहीं करता। अफसरी और सहवर्ती सेवाओं की विद्रूपताओं की भी खबर वह उतने ही निस्संकोच भाव से ले सकता है। प्रशासन में व्याप रही अनेक छोटी-छोटी बातों पर लेखक सूक्ष्मता से विचार करता है, मसलन, राजधानी/शताब्दी एक्सप्रेस गाड़ियों में जो इतनी-इतनी मात्रा में थोड़ी-थोड़ी देर बाद खाना परोसा जाता है, उसके औचित्य पर सवाल उठाता है, या इस नौकरशाह वर्ग के लोग जब सरकारीगाड़ियों से उतर अपने दफ्तर पहुँचते हैं तो किस प्रकार कई-कई चपरासी इनकी ओर लपक इनकी जरा-जरा-सी चीज उठाकर दफ्तर के कमरों तक पहुँचाते हैं, आदि-आदि।

\* पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय 63, कैसरबाग, पटियाला-147001  
108 चिन्तन-सृजन वर्ष-4 अंक-3

वस्तुतः लेखक ने अपनी इस पुस्तक में “समाज विज्ञान और साहित्य के बीच में इन अदृश्य हस्त-रेखाओं को बाँचने की कोशिश” की है (भूमिका)। यह समाज जिसकी वह खबर लेता है, हिन्दी पढ़ी का समाज है, उसके बरबस दक्षिण का समाज है, जिसमें आज भी सांस्कृतिक मूल्यों के लिए सम्मान और श्रद्धा है। पुस्तक के साथ आलेख विषयानुसार चार खण्डों-शीर्षकों में रखे गए हैं : ‘शिक्षा के दायरे’, ‘तन्त्र के कायदे’, ‘किताब के मायने’ तथा ‘समाज की परतें’। ‘शिक्षा के दायरे’ के आलेखों में शिक्षा क्षेत्र की विसंगतियों की चर्चा कर कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल उठाए गए हैं। लखनऊ में सैण्टिक टैंक घिसक जाने से भर्ती के लिए आए दो दर्जन नौजवानों की मौत उसे आन्दोलित करती है इस काम को तीन-चार हजार साल पहले हड़प्पा संस्कृति के लोग बेहतर ढंग से अंजाम दे सकते थे। अतः “दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी वैज्ञानिक तकनीकी संख्या का क्या अचार डालें, जो रोजाना की जिन्दगी को ही नहीं सँवार सकती।” उसका मूल कारण है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था जिन्दगी के शाश्वत मूल्यों को पाठ्यक्रम में शामिल कर अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न नहीं करती। उसकी आकांक्षा है कि हमारी शिक्षा इन मूल्यों का समावेश किसी-न-किसी रूप में पाठ्यक्रम में करे। आज शिक्षा एक कुशिक्षा का रूप ले रही है, इसमें श्रम का महत्त्व तो रह ही नहीं गया है, जिससे नवयुवकों का व्यक्तित्व लुंज-पुंज होता जा रहा है। लेखक की सहयोगी महिलाकर्मि जब अपने बीस वर्षीय पुत्र को ग्यारह बजे लगभग दोपहर में उठ जाने, आदि, की हिदायतें फोन पर दे रही है तो लेखक सोचता है और पाठक को सोचने के लिए विवश करता है कि ‘इंजीनियरिंग पढ़ने-न-पढ़ने का क्या अर्थ है, जब हम जीवन जीने की आधारभूत बातें ही नहीं सीख पा रहे हैं।’ आजकल शिक्षा देने के लिए जो पब्लिक स्कूल संस्कृति विकसित हो गई है, उसके लिए माँ-बाप को मोटी-मोटी फीस चुकाने के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ता। इन स्कूलों में शिक्षा दिलाने के लिए प्रवेश के दिन से ही माँ-बाप के लिए बेईमान बनने का पहला चरण ऐसे ही खर्चों की सम्पूर्ति करने के लिए शुरू हो जाता है। इन महँगे बोर्डिंग हाउसों वाले स्कूलों में बच्चों को जो मानसिक तनाव और एकाकीपन का सन्ताप भोगना पड़ता है उसके कारण जो दस-दस वर्ष के बच्चे आत्महत्या कर रहे हैं, वे सोचने पर मजबूर करते हैं। सिविल सर्विस परीक्षाओं को लेकर भ्रान्ति, पब्लिक स्कूलों में कमजोर वर्ग के बच्चों के लिए आरक्षण का छलावा, छुट्टियों का अर्थ ही छात्रों के लिए बदल जाना, ब्रेन-ड्रेन की समस्या, माँ-बाप के ‘अनन्त सपनों’ को बच्चों में देखने का दुष्परिणाम, विदेशी ब्राण्ड नामों के प्रति आकर्षण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस खण्ड में विमर्श का विषय बने हैं।

‘तन्त्र के कायदे’ शीर्षक खण्ड में लेखक ऊँचे नौकरशाह तबके की ओर मुड़ता है, जिनकी जिन्दगी को न केवल उसने सूक्ष्मता से जाँचा-परखा है अपितु स्वयं

भी उस जिन्दगी का भोक्ता, एक हिस्सा है। पहला सवाल वह यह उठाता है कि “जिस देश की सर्वोच्च नौकरशाही अपने मातहतों पर इतनी परजीवी, आश्रित हो, क्या वे गाँधी के देश को सँभालने के हकदार हैं।” उसका कारण यही है “सचमुच अंग्रेज चले गए, नाज-नखरे नहीं गए गाँधी के देश में।” नौकरशाही जिस तरह ‘अपनों’ को उपकृत कर रही है और वे लोग जिस तरह हर नौकरशाह से वही अपेक्षा करते हैं, उससे हिन्दी पढ़ी के वासी अधिक ग्रस्त हैं, मानों वे कटोरा लेकर आगे बढ़ते हैं ‘मेरे लिए क्या’। पिछले बीस बरसों में हिन्दी पढ़ी से सिविल सर्विस में अधिक भर्ती हुई और उन्होंने जो उपकृत कर उत्तर भारत के सभी छोटे-बड़े नगरों, शहरों में व्यवस्थागत गिरावट को जन्म दिया, वह सबके सामने है। नौकरशाह अपने काम के समय निजी कामों को करने के लिए व्यस्त रहते हैं, अपने दफ्तर या कार्यस्थल से बाहर। उसके लिए लेखक ने एक अच्छा सुझाव ‘वर्दी वाली सरकार’ के रूप में दिया है कि यदि इनकी कोई निश्चित वर्दी होगी तो जनता इन्हें पहचान तो लेगी कि सरकारी काम के घण्टों में ये कहाँ क्या-क्या तीर मार रहे हैं। अभी हाल-फिलहाल में आरक्षण के मुद्दों को लेकर डॉक्टरी-इंजीनियरिंग के परिसर फिर सुलग रहे हैं, इस पर बहुत सन्तुलित रूप में ‘आरक्षण और छीतरमल’ आलेख में विचार किया गया है। लेखक को अहसास है कि इस समस्या पर विचार करना बहुत हाई वोल्टेज के करन्ट पर हाथ रखना है। सरकारी सुविधाओं का कितना गलत इस्तेमाल यह उच्च नौकरशाह वर्ग करता है, इस पर भी बड़ी बेबाकी से कई आलेखों में विचार हुआ है, जिसका सार यह है कि “भौजूदा हालात में दफ्तर मुझे मरने नहीं देता और गाँधी मुझे जीने।”

‘किताब के मायने’ खण्ड में सबसे पहले इस बात पर विचार किया गया है कि हिन्दी पढ़ी के लोगों में कितना मुफ्त में पा जाने जैसी घृणास्पद प्रवृत्ति घर कर गई है। लेखक कभी कुपित होकर ऐसी टिप्पणी करने को विवश हो जाता है, ‘शाबाश मेरे उत्तर प्रदेश के अंग्रेजी बाप।’ ग्रन्थावलियों के माध्यम से भी क्या लेखक, पाठक, साहित्य का कुछ हित-साधन हो रहा है, यह भी चिन्ता का विषय बनता है। हिन्दी की स्थिति पर भी के.बी.सी. हिन्दी का करिश्मा, ‘हिन्दी का भविष्य’, ‘लोहे के पेड़’, ‘गरीबी और लेखक’, ‘हिन्दी पुरस्कार की भूख’ आदि आलेखों पर विचार हुआ है।

‘समाज की परतें’ शीर्षक खण्ड के आलेख भी बहुत विचारोत्तेजक हैं। साथ ही इनमें लेखकीय व्यक्तित्व और मुखर होकर सामने आया है। इसका कारण यह है कि लेखक ने स्वयं अपने वर्ग पर आलेख लिखे हैं। ‘समाज के मूल्य’ में दर्शाया गया है कि उत्तर भारतीय अफसर किस प्रकार अपने कमरे की साजो-सज्जा में व्यस्त रहते हैं, दक्षिण के अफसरों में यह प्रवृत्ति उतनी नहीं है। लेखक हैरत में हैं कि केरल के बहुत कम अफसरों ने प्रशासन के खिलाफ कोई केस किए हैं, जबकि हिन्दी पढ़ी के अफसरों ने केस ही केस दायर कर रखे हैं। ‘कार-बेकार’ में लेखक यह सवाल

उठाता है कि उसके पास तो कार है ही नहीं, किन्तु दिल्ली जैसे महानगर में कार लेकर क्या संकट है। साथ ही, यह विचार भी हुआ है कि इस उपभोक्तावादी दौर में हमारे जीवन के मूल्य मानक क्या हो गए हैं? मार्किट, प्रतिस्पर्द्धा के दबाव में वो आपकी हैसियत लगातार कार के मॉडल, बच्चों के स्कूल जैसी सैकड़ों कमबख्त व्यक्तिगत चीजों से ही मापता रहता है। ‘अंग्रेजी बोलते भाँड’, ‘इण्डिया टुडे 55’, ‘आज की युवा पीढ़ी’, ‘हिन्दी क्षेत्र के बुद्धिजीवी’,...‘क्रिकेट की कै कै’, ‘कलाम को सलाम’, आदि इस खण्ड के अन्य कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख हैं। इस पुस्तक की बहुत बड़ी सफलता यह है कि इसका प्रत्येक आलेख और शब्द पढ़ने की बाध्यता और सार्थकता सिद्ध करता है।

इतना प्रभावी लेखन करने वाले प्रेमपाल शर्मा की भाषा को लेकर एक शिकायत मुझे इस पुस्तक को लेकर है। प्रेमपाल शर्मा हर जगह ‘यह’ और ‘ये’ दोनों के लिए ‘ये’ का प्रयोग करते हैं (द्र.पृ. 26, 30, 76, 80, 89, 158 आदि)। पूरी पुस्तक में ‘यह’ का सही रूप में प्रयोग केवल एक या दो स्थानों पर ही हुआ है। मैं प्रायः ही कहता रहा हूँ कि इधर हिन्दी के कितने ही नामधारी लेखक, सम्पादक इस ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। निश्चित रूप से यह मुद्रण की भूल नहीं है, लेखक को इस ओर से उदासीन नहीं होना चाहिए।

\*\* हिन्दी : पढ़ी : पतन की पड़ताल; लेखक : प्रेमपाल शर्मा; प्रकाशक : मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32; मूल्य : 200/-

*With Best Compliments from*

**NIDHI AUTO  
(P) LTD.**

**C-43, PHASE II, NOIDA (U.P.)**

## एकोत्तरशति\*\*

### धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'\*

प्रस्तुत काव्य संग्रह में तेलुगु के आधुनिक युग की एक सौ एक कविताओं का संकलन है, इसी आधार पर इसका शीर्षक भी रखा गया है। इसमें डा० रेड्डी ने 'बीसवीं' शती के उत्तरार्ध की तेलुगु कविता: एक अनुशीलन शीर्षक के अन्तर्गत अपना पाण्डित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, जिससे तेलुगु कविता से सम्बद्ध विचारों, भावों, रचनाधार्मिता के विविध आयामों का सहज ही बोध हो जाता है। प्रत्येक भाषा के साहित्य में मानवीय आशा- निराशा, सुख-दुख, विषम एवं अनुकूल परिस्थितियों का चित्रण प्राप्त होता है। तेलुगु साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है, क्योंकि विश्वमानव की धड़कन, हास-परिहास एक समान होता है।

**अभ्युदय काल:** लम्बे वक्तव्य में डा० रेड्डी ने प्रवृत्ति के आधार पर वर्तमान युगीन कविता का विभाजन कर उसका विवेचन किया है। जो कविता को समझने में पूरी तरह सहायक है। 1950-60 तक तेलुगु कविता का जागरण काल या अभ्युदय काल रहा है। इस काल की **"कविता किसी एक वाद से प्रतिबद्ध न होकर विविध पाश्चात्य वादों के परिप्रक्ष्य में अपने को रूपायित करते हुए नये प्रयोग करने लगी।"** (पृ. 27) इसे प्रयोगवादी कविता भी कहा गया। यों, तो अभ्युदय काल का समय 1035-1950 तक ही माना जाता है, तथापि उसका प्रभाव 1960 तक दीख पड़ता है। **जिस प्रकार प्राचीन रुढ़िवादिता और इतिवृत्तात्मकता से ओत-प्रोत कविता की प्रतिक्रिया में भाव-प्रधान चेतना के प्रतीक के रूप में भावकविता का जन्म हुआ, उसी प्रकार भावकविता की अतिशय कल्पनाशीलता, आत्मलीनता तथा असामाजिकता के विरुद्ध यथार्थ मूलक दृष्टि के प्रतीक के रूप में अभ्युदय कविता का उदय हुआ।** (पृ. 23)

इस काल के अन्तिम पड़ाव के कवियों ने पाश्चात्य के अनुकरण पर दादावाद, भविष्यवाद, अतिथार्थवाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, निराशावाद, अराजकतावाद आदि का चित्रण किया। इनमें नारायण बाबू, आरूद्धा, पठामि, दशरथि रमणा रेड्डी, अजंता, मीमन्ना वजीर रहमान आदि प्रमुख हैं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

\* समीक्षक : धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री', पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी, गुवाहटी विश्वविद्यालय।

अजंता की कविता मृत्यु की हास्य-प्रियता

आदमी का भी वही हाल है

उस दिन जब सूरज विलक्षण दीख रहा था

दो युवक सड़क के बीचो-बीच खड़े होकर

काल के स्वभाव का वर्णन बंदूकों की भाषा में कर रहे थे।

इस काल में छन्द-बन्ध का जाल बिखर गया और मुक्त छन्द का प्रचलन आरंभ हो गया।

**वचन कविता:** यद्यपि मुक्त छन्द का प्रारंभ अभ्युदय काल में ही हो गया था, तथापि उसको पूरी जमीन मिली **वचन कविता** युग में। इस युग में **कुंदुर्ति आंजनेयुलु ने छन्दोबद्ध कविता के स्थान पर गद्य में कविता लिखने का जोरदार आवाहन किया।** (पृ. 28) आगे चलकर कवियों ने न केवल छन्द-बन्ध के पाश को तोड़ा, बल्कि शिल्प और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी नये प्रयोग किये। यथा,

आज जीवन हमारा

गहरी नींद का दुःस्वप्न है।

भूल जाओ, जो बीत गया.....

इतिहास को, गसित अनुभवों के साँपों से

करो मंथन आज वर्तमान का। कुंदुर्ति

इस काल के प्रमुख कवि हैं शीला वीरंजु, इस्माइल, देवर कोंड, बाल गंगाधर तिलक आदि।

**दिगम्बर कविता:** लगभग 1965 में यह काव्य-आन्दोलन प्रादुर्भूत हुआ। इसे **'शॉक ट्रीटमेन्ट'** कहा गया। डा० रेड्डी के अनुसार **समाज में जो गंदगी है, उसे बहिर्गत करने के लक्ष्य से उन्होंने अपना आन्दोलन चलाया। इसीलिए अपनी कविता को उन लोगों ने दिगंबर कविता कहा है।** (पृ. 29) इस काल के कवियों ने छद्म नाम से कविता की रचना की। यही काव्यान्दोलन 1969-70 में **विप्लव कविता** के रूप में परिणत हो गया।

**विप्लव कविता:** जैसा कि अमिधा से ही स्पष्ट है कि इस काल की कविताएँ क्रान्ति मनोगत भाव से उद्भूत हैं। आंध्र में पनपने वाली नक्सली, क्रान्तिकारी भावना को शक्तिशाली बनाने के लक्ष्य में कविताओं की रचना की गयीं। **विरसम** (वि = विप्लव, र = रचयिता, सं = संघम) की स्थापना का उद्देश्य भी क्रान्तिकारी आवाज को बुलन्द कर क्रान्तिकारियों के मनोबल को शक्ति प्रदान करना था। इस खेमे के कवियों में शिवसागर, चेरबंडराजु, बरवर राव आदि प्रमुख हैं। सच तो यह है कि इसके कवियों ने पूंजीपतियों के प्रति अपना गहरा आक्रोश व्यक्त किया है। इन लोगों ने कलम को तलवार बना दिया है। यथा,

जता दी हमने सबको  
उठा लिये हथियार हमने  
क्रान्तियाँ रहेंगी बरकरार  
अब मौत है तुम्हारी  
जीत है हमारी

चेरिबंडराजु (पृ. 69)

**अन्तर्मुखीन कविता:** वेगुंट मोहन प्रसाद इस धारा को प्रारंभ करने वाले कवि माने जाते हैं। उनके कविता-संग्रह **मो** में इसका प्रतिफलन हुआ है। **इस भाव धारा में अपने स्वरूप का अन्वेषण, अवचेतना की स्थिति, सुखअनुभूति और भग्न काम वासना आदि वैयक्तिक अनुभूतियाँ हमें भरपूर मिलती हैं।** (पृ. 33)

**स्त्रीवादी कविता:** इस धारा के कवियों ने श्लील-अश्लील के मुखौटों को उतार कर फेंक दिया और समस्त वर्जित विषयों का वर्णन किया जिनको साहित्यशास्त्र में वर्णित नहीं किया जाता था। यथा, प्रसव-वेदना, ऋतु धर्म, प्रच्छन्न संभोग आदि व्यंग्य होते थे, न कि मुख्य। कहा गया है **अर्थ ढके छवि पातु हैं कवि अक्षर, कुच, केश।** यहाँ इस सिद्धान्त की या बन्धन की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है। वरं राणी ने पुरुष (पति) को अजगर का प्रतीक माना है, जो बात करता है, आगोश में भर लेता है, यदि मैं सहमत नहीं हुई, तो दंड देता है, हमारे अस्तित्व को मिटा देता है, वह सबकुछ करता है, लेकिन मुझे रख/चार दीवारों के बीच/छह दिशाओं से घेरकर/चबाकर निगल जाता है। पृ. 152।

**दलितवादी कविता:** प्रश्न यह है कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य कहा जाएगा या दलितेतर लोगों द्वारा दलित सम्बन्धी साहित्य को दलित साहित्य कहा जाएगा। मेरी मान्यता है कि प्रवृत्ति तथा विषय वस्तु के आधार पर ही साहित्यकार का खेमा बनना चाहिए, न कि जन्म के आधार पर। दलितों की समस्याओं, उनकी मनोवृत्तियों, उसकी कशक, पीड़ा-व्यथा को उनकी भाषा में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य हैं और उसके रचनाकार दलित साहित्यकार हैं। धूल उड़ाती कार से ऊबकर कवि कहता है

हे भगवान्।

मुझे ट्रेक्टर दो

जिससे मैं इससे कई गुना धूल उड़ा सकूँ।

इसी तरह **वह तोड़ती पत्थर** (निराला), **मोचीराम** (धूमिला) आदि अनेक रचनाएँ हैं, जिनके रचयिता जन्मना उच्च वर्ग के हैं, पर उनकी सहानुभूति, प्रवृत्ति दलित वर्ग से है। कथन है :

हमारी मौत का दाम तय किया जाता है

अब हमें खून से सना पैसा नहीं चाहिए

जो हमारी आवश्यकता है उसे माँगने का निर्भीक गला चाहिए  
नया संविधान, नया देश, नयी भूमि, नया आकाश हमें चाहिए।

एड्लुरि सुधाकर, अनु:निखिलेश्वर (पृ. 36)

**माइनरिटी कविता:** इसे एक प्रकार का तेलुगु मुसलमानों का आत्मघोष कहा जा सकता है। तेलुगु भाषा को समृद्ध करने में मुसलमानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन मुसलमानों ने अपनी कविता का उद्देश्य बना लिया है जो मुसलमानों के प्रति विरोधी भाव-धारा प्रचारित होती है, उसका खण्डन करना, मुसलमानों के हितों की रक्षा करना, तथा उन्हें जागरूक बनाकर उनमें सत् चेतना जागरित करना। पीढ़ी-दर पीढ़ी से आती हुई रूढ़िवादिता का विरोध कर उनमें नयी रोशनी जगमगाना।

इधर कुछ मिनी कविताएँ, क्षणिकाएँ भी लिखी जा रही हैं। समग्रतासे डा0 रेड्डी द्वारा प्रस्तुत तेलुगु कविता का संक्षिप्त प्रवृत्तिगत विवरण का साम्य असमिया, बंगला, मराठी, हिन्दी आदि काव्य-प्रवृत्तियों से जोड़ा जाएगा। निष्कर्ष रूप में स्वीकार किया जाएगा कि समग्र भारत के साहित्यकार का मनोभाव एक है। एक साहित्य दूसरे साहित्य का पूरक है। सबकी अन्तर्धारा एक है।

डा. विजय राघव रेड्डी अच्छे अनुवादक हैं। वे हिन्दी के बहुश्रुत विद्वान्, सुधी चिन्तक तो हैं ही, साथ ही उनका अनुवाद साहित्य भी अत्यन्त सरस, प्रांजल एवं प्रवाहमयी होता है। कविता का कविता में सफल अनुवाद करना दुष्कर नहीं, तो कठिन कार्य अवश्य है। यह पुस्तक उनकी अभूतपूर्व क्षमता, संवेदनशीलता का परिणाम है। आप 1962 से ही अनुवाद कार्य करते रहे हैं। आपने कभी कविता का तो कभी कहानी का अनुवाद कर उसे प्रकाशित करवाया है। प्रस्तुत काव्य संग्रह की **एक सौ एक** कविताओं को पढ़ने पर यह प्रतीत नहीं होता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं। मूल से जो स्वाद, आस्वाद्य, रसबोध, साधारणीकरण होता है, वे सब यहाँ भी प्राप्त हैं। डा0 रेड्डी ने शब्द शक्ति एवं अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त सटीक रूप से किया है। इसकी भाषा सर्वत्र, आद्यन्त सहज, सरस और भाव-बोधगम्य बनी हुई है।

विश्वास है, इस तरह की और भी कृतियाँ उनकी झोली से निकलेगी और हिन्दी साहित्य समृद्ध होगा। प्रस्तुत कृति संग्रहणीय एवं पठनीय है।

\*\* **एकोत्तरशति, संकलन एवं अनुवाद:** डा. विजय राघव रेड्डी, प्रकाशन 16-9-330/ए, ओल्ड मलकपेट, कागज कारखाना के निकट, हैदराबाद 500036 प्र.सं. 2006, पृ. 184, मूल्य-250 रु. मात्र।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ त्रैमासिक का अक्टूबर-दिसम्बर, 2006 अंक मिला है। अपना प्रकाशित आलेख देख गया हूँ। आलोक अंडन और शंकर शरण के आलेख महत्वपूर्ण हैं, वैचारिक दीप्ति से भरे और समसामयिक तथ्यों को राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय क्षितिज पर उजागर करने वाले! शंकर शरण के इस कथन की ओर कई रूपों में ध्यान दिये जाने और हर संभव करणीय करने की अपेक्षा है कि “जो अन्दाज कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए सही था, वही इस्लामी साम्राज्यवाद के लिए भी सही है। इस्लामी राजनीतिक विचारधारा को वाक-ओवर नहीं दिया जाना चाहिए। उसे हर किसी को धमकी देने और हर बात पर हिंसा करने का अधिकार छोड़ कर तथ्य और तर्क की, खुले विचार-विमर्श की बराबर जमीन पर उतरना होगा। तभी उसे असली सामर्थ्य का अंदाजा हो सकेगा।” ‘चिन्तन-सृजन’ सचमुच एक वैचारिक त्रैमासिकी है और इसके लिए एक खुला मंच भी कि “विचारधारा की लड़ाई ताकत से नहीं, जवाबी विचारों से ही लड़ी जा सकती है।”

**पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु, विजिटिंग प्रोफेसर, महात्मा गाँधी  
अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)।**

... ‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर 2006 का अंक मिला। आपने सम्पादकीय में सही जगह पर उँगली रखी है। ‘विशेष आर्थिक क्षेत्र’ की स्थापना वस्तुतः भारत में नव उपनिवेशवाद की स्थापना है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह का संसाधनों पर अल्पसंख्यकों का पहला हक या अल्पसंख्यकों के नाम पर मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति शुद्ध राजनीतिक बयान है, एक बुद्धिजीवी प्रधानमंत्री का बयान नहीं। मुस्लिम सम्प्रदाय अपने पिछड़ेपन के लिए स्वयं उत्तरदायी है, वह अपनी बंद खोल से बाहर निकलना नहीं चाहता। सिक्ख एवं सिंधी समुदाय अपनी कर्मशीलता के कारण आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं। डॉ. शंकर शरण के आलेख हमेशा की तरह सच को सामने रखनेवाले हैं। हमारा आजका बौद्धिक वर्ग जो अपने को सेक्यूलर और रेडिकल कहता है सचमुच ही डॉ. रमेशचन्द्र शाह के शब्दों में आत्मद्रोही हैं। ‘हिन्द स्वराज’ का पुनर्पाठ आलेख भी अच्छा है। पर दुख की बात यह है कि गाँधीजी की पसंद वे नेहरू ही थे, जिन्होंने हिन्दस्वराज में प्रतिपादित विचारों को कुड़ेदान में डाल

दिया। ऐसा तो नहीं कि गाँधीजी का मस्तिष्क पटेल, राजेन्द्र बाबू और कृपलानी जैसे लोगों के साथ था और हृदय नेहरू के साथ और गाँधीजी हृदय के हाथों पराजित हुए।...

**- डॉ. सदानन्दप्रसाद गुप्त, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,  
दी.द.उ.गो.वि.वि., गोरखपुर एवं सम्पादक, ‘समन्वय’; गोरखपुर।**

...‘चिन्तन-सृजन’ के द्वारा आप महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। ...

**- गोविंद कुमार ‘गुंजन’, खण्डवा (म. प्र.)। ...**

पिछला अंक चिन्तन-सृजन का मिल गया है। ‘जातक कथाएँ’ इस रूप में पहली बार पढ़ने को मिली। बहुत व्यवस्थित रूप में हो नहीं, तो भी श्रमपूर्वक शोध के नमूनों के रूप में पाठकों के लिए बड़ी रोचक सामग्री है। शंकर शरण का लेख हस्तमामूल बहुत बढ़िया है। सचाई को वीरन्द्र और सुस्पष्ट ढंग से सामने लाने का यह उपक्रम सभी के हित में है। भले जिस तरह की शिक्षा-व्यवस्था और बुद्धिचर्या स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रतिष्ठित है, उसकी कुशल असुविधाजनक तथ्यों की अनदेखी और लीपापोती में ही रही चली आ रही हो। ऐसे लेख इस दुश्चक्र को तोड़ने का, और इस तरह वास्तविकता के साथ जीने और सोचने करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

**- रमेशचन्द्र शाह, भोपाल।**

‘चिन्तन-सृजन’ पढ़ने को कभी-कभार मिल जाती है। यह समकालीन दौर की महत्त्वपूर्ण एवं विचार प्रधान पत्रिका है। रमेशचन्द्र शाह का लेख ‘बुद्धिजीवियों का आत्मद्रोह’, शंकर पुणतांबेकर का ‘देश’, शंकर शरण का ‘इस्लामी आतंकवाद और विचारधारा’ गंभीर और विचारोत्तेजक लेख हैं। शेष सामग्री भी पत्रिका को पठनीय और गंभीर बनाती है। इस श्रेष्ठ संपादन के लिए वधाई।

**- आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, संपादक, ‘शब्दशिखर’, सागर (म.प्र.)।**

‘चिन्तन-सृजन’ त्रैमासिक का अंक अक्टूबर-दिसम्बर, 2006 मिल गया, धन्यवाद! ‘इस्लामी आतंकवाद और विचारधारा’ श्री शंकर शरणजी कर लेख पढ़ा। बड़ी ईमानदारी और हिम्मत से वह उसके निराकरण या कहें उन्मूलन के प्राथमिक उपाय को सुझा पाए हैं। कोई कैसा भी संप्रभु पाले या पालने को मजबूर करे जैसा कि सियासती और साहित्यिक दायरे में हो रहा है, यह प्रत्युत्पन्न मनुष्य की मानसिक विकृति के स्रोत को बदले बिना सम्भव नहीं होगा। डॉ. राजमल बोरा के लेख ‘जातक कथाएँ’ में संस्कृत, पालि तथा प्राकृत भाषाओं में समय का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए था या फिर ऐसा अनावश्यक संदर्भ ही न उठाया जाता।

**-डॉ. केशिकान्त, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला।**

... प्रत्येक अंक की तरह 'चिन्तन-सृजन' का अक्टूबर-दिसम्बर, 2006 अंक सूचनाप्रद, चिन्तनपरक एवं संग्रहणीय है। स आभार

- डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, परिसर, कोठी,  
काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224 001.

'चिन्तन-सृजन' समय पर मिल जाता है। आभारी हूँ। यह एक ऐसी पत्रिका है जो हर अंक में गंभीर और नयी सामग्री लेकर आती है। इसका हर अंक संग्रहणीय होता है। इसका यह स्तर बना रहे और इसी रफ्तार से यह निकलती रहे। मेरी शुभकामनाएँ।

- अंजना वर्मा, कृष्णटोला, मुजफ्फरपुर, बिहार।

'चिन्तन-सृजन' अक्टूबर-दिसम्बर, 2006 (वर्ष 4 अंक 2) प्राप्त हुआ। धन्यवाद। इस अंक में श्री यशदेव शल्य की प्रतिक्रिया से अप्रैल-जून के अंक में प्रकाशित श्री रहमान मुसव्विर के लेख-पाकिस्तानी उर्दू कथा-साहित्य में भारतीय देवी-देवता की जानकारी मिली।

-प्रो. महेश दुबे, आर-36, महालक्ष्मी नगर,  
बाम्बे हास्पिटल के पास, इन्दौर-452010(म.प्र.)

'चिन्तन-सृजन' का अक्टूबर-दिसम्बर, 2006 का अंक प्राप्तकर हर्षित हुआ। 'चिन्तन-सृजन' का प्रत्येक अंक ग्रन्थकल्प होता है। प्रस्तुत: अंक भी सारस्वत गरिमा की दृष्टि से पठनीय और संग्रहणीय है। प्रत्येक आलेख चिन्तन की प्रौढिमा और विषय की गम्भीरिमा से सम्पन्न है। 'इस्लामी आंतकवाद और विचारधारा' शीर्षक श्री शंकर शरणजी का आलेख तद्विषयक समस्याओं का बहुकोणीय आकलन प्रस्तुत करता है और राजनयिक दाव-पेंच का भी खुलासा इसमें चिन्तन के स्तर पर किया गया है। इसी प्रकार पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने 'उत्तर-मार्क्सवाद और हिन्दी के मार्क्सवादी चिन्तक' शीर्षक अपने चिन्तन प्रौढ आलेख में हिन्दी के मार्क्सवादी चिन्तक लेखकों की वैचारिक दुर्बलता अथवा पूर्वाग्रह का भी बेबाक पर्दाफास किया है। वस्तुतः तथाकथित चिन्तक कम पूँजी में बड़ा व्यापार करने के फेर में रहते हैं! राजमल बोरा का जातक कथाओं पर केन्द्रित आलेख आकलनात्मक कम और संकलनात्मक अधिक है। आलोक टण्डन द्वारा प्रयुक्त 'पुनर्पाठ' प्रयोग अपाणिनीय है। विसर्ग के परे यदि कोमल वर्ण होता है, तभी उसका 'र' होता है। कठोर वर्ण रहने पर विसर्ग ज्यों का त्यों रहता है। इसलिए 'पुनःपाठ' ही पाणिनीय है। हिन्दी में, प्राध्यापकीय क्षेत्र में शब्दातिचार बहुत बढ़ गया है। आपका सम्पादकीय तथाकथित राजनयज्ञों की संकीर्ण स्वार्थ-दृष्टि

को उभेपित करनेवाला है। सचमुच, आपकी यह सार्थक पत्रिका चिन्तन की नवीन दृष्टि देती है और सृजन की नई दिशा भी स्पष्ट करती है।

- श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।

आप की पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' का अधुनातम अंक प्राप्त हुआ। अंक बहुत उत्तम बन पड़ा है, जैसा कि हमेशा ही होता है। इस के पहले के भी अंक नियमित रूप से प्राप्त होते रहे हैं। पूर्व के दो अंकों पर भी पत्र के माध्यम से कुछ कहना चाहता था। परन्तु अतिदीर्घ रुग्णता ने अनुमति नहीं दी। अतः अब ही लिख पा रहा हूँ। विस्तार भय से ही केवल इसी अंक पर अपना ध्यान सकेन्द्रित कर रहा हूँ। पत्र अलग-अलग खण्डों में बँटा है। अधिक क्या लिखूँ। आप की तथा आप की पत्रिका के लिए स्वास्थ्य तथा मङ्गल-कामना करता हूँ। ऐसी विशिष्ट पत्रिका का पाठक होना सौभाग्य की ही बात है, अन्यथा वर्तमान हिन्दी परिसर में दुर्भाग्य के दुःखों से ही सामना होता है। अस्तु। ...

- कुमार सौरभ, हैदराबाद।

उच्चस्तरीय बौद्धिक सामग्री से परिपूर्ण चिन्तन-सृजन पत्रिका मिल रही है। मैं आभारी हूँ। सचमुच यह सृजन चिन्तन से अवगत कराती है। पत्रिका क्या है यह स्वयं में एक पुस्तक है। चिन्तन हमारे चिन्तन से जागृत करने वाली है। ऐसी साफ सुथरी पत्रिका मैंने कभी देखी न थी। आपके सारस्वत प्रयासों को हृदय से नमन करता हूँ। इस पत्रिका ने चार वर्षों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। हर अंक निखरता जा रहा है।

- डॉ. रमाशंकर पाण्डेय, ई 1663 सोनारी, जमशेदपुर-839039.

गत वर्ष चिन्तन-सृजन के दो अंक खरीद कर पढ़े। पत्रिका इतनी मनोनुकूल और ज्ञानवर्द्धक लगी कि इस वर्ष स्थायी ग्राहक ही बन गया। बड़े पूंजीपतियों की चमक-दमक वाली और व्यावसायिक पत्रिकाओं के मेले में यह अपना अलग और विशिष्ट स्थान रखती है। यह वर्तमान के विश्व-फलक पर भारतीय मनीषा का दिव्य दर्शन कराने वाली ज्योतिर्मय पत्रिका है। इसकी सादगी मनको मोह लेती है। सुरुचि सम्पन्न बौद्धिक वर्ग के लिए मानसिक खुराक और पारगामी अन्तर्दृष्टि देने वाली रचनाएँ ही इसमें संकलित की जाती हैं, यह सम्पादकीय सुरुचि और दृढ़ता का परिचायक है। राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जन-मानस में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं को तोड़ कर सप्रमाण वास्तविक और तथ्यपूर्ण आलेख पढ़कर मन दिव्य प्रकाश से भर जाता है। जुलाई-सितम्बर अंक 2006 के सम्पादकीय में प्रतिवर्ष लाखों निरीह-निरपराध व्यक्तियों की हत्या पर सम्पादकीय व्यथा गहरी संवेदनशीलता को व्यक्त करती है।

साथ ही मानव जाति की संवेदनहीनता भी चिन्तनीय विषय है। श्री यशदेव शल्य का लेख 'भारतीयता का नवसर्जन' और श्री शंकर शरण का निबन्ध 'बहुसंस्कृतिवाद का कपट' भ्रम में भागते हुए भारतीय समाज की आँखें खोलने वाले हैं। अन्य रचनाएँ भी मनन के योग्य हैं। मैं चिन्तन-सृजन के स्थायित्व और व्यापक प्रचार-प्रसार की शुभकामना करता हूँ।

- श्री अमोघ नारायण झा, स्वतंत्रता-सेनानी,  
साहित्यकार, अररिया (बिहार)।

आपके संपादकीय काफी सामयिक, पैने और उद्बोधक होते हैं, किन्तु उससे क्या होता है? हम जैसे लोग यदि आमरण अनशन पर बैठ जाएं तो भी कुछ नहीं होगा। पर खैर, हमें चिल्लाना तो चाहिए ही!

- यशदेव शल्य, जयपुर।

आपके प्रशंसनीय सम्पादन में प्रस्तुत यह पत्रिका सदा ही ज्ञानवर्धक, रोचक व गम्भीर पाठ्य सामग्रीसे परिपूर्ण है। अक्टूबर-दिसम्बर 2005 अंक-2 वर्ष-3 का 'सावित्री और श्री अरविन्द' लेख उन्नत साहित्यिक-दार्शनिक स्तर का था। श्री रमेशचन्द्र शाह को तथा आपको साधुवाद व धन्यवाद। श्री रमेशजी के लेख सदा स्मृहणीय रहते हैं। आपके पृष्ठ 11 पर की कुछ पंक्तियाँ सही नहीं हैं। लिखा है: सन बीस के बाद ..... 'सावित्री' को छोड़कर और कोई लेखन उन्होंने नहीं किया'। यह मिथ्या उक्ति है। संदर्भ देखे:- 1920 के बाद की कुछ रचनाएँ।

- 1933-36 Book "Element of Yoga"
- 1936-44 About 50 Poems.
- 1930 & After 3 big Volumes of letters.  
( ये पत्र भी मौलिक लेखन जैसे हैं)
- 1926 'The Mother' (his most Popullar book)
- 1949 Supermental Manifestation on Earth

यह मृत्यु के प्रायः एक मास पूर्व समाप्त हुई।

- ज्ञानचन्द्र, अध्यक्ष: श्री अरविन्द चेतना समाज।